मूल्य : ५.२५ रुपए

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली-६

मुद्रक :
नवीन प्रेस,
दिल्ली-६

सूची

खण्ड १ : दुःख के कारण

१. लोग दुःखी क्यों रहते हैं ? ११
२. नियति-गत दुःख २२
३. प्रतियोगिता ३६
४. ऊब और उत्तेजना ५०
५. थकान ६१
६. ईर्ष्या ७३
७. पाप की भावना ८५
८. उत्पीड़न-उन्माद ९९
९. लोकमत का भय ११२

खण्ड २ : सुख के कारण

१०. क्या सुख अभी भी सम्भव है ? १२७
११. उत्साह १४०
१२. स्नेह १५६
१३. परिवार १६७
१४. काम १८७
१५. निर्वैयक्तिक रुचियाँ १९७
१६. प्रवृत्ति और निवृत्ति २०७
१७. सुखी मानव २१७

आमुख

यह पुस्तक विद्वानों के लिए नहीं लिखी गई है और न ही उन लोगों के लिए जो किसी व्यावहारिक समस्या को मात्र वाद-विवाद का विषय समझते हैं। इसमें कोई गम्भीर दर्शन और विद्वत्ता भी नहीं मिलेगी। मैंने केवल कुछ ऐसे ही सुझाव देने का प्रयत्न किया है जिन्हें मेरे विचार में सामान्य बुद्धि से प्रेरणा मिली है। मैंने इस पुस्तक में जो युक्तियां बताई हैं उनके बारे में इतना ही कह सकता हूं कि वे मेरे अपने अनुभव और निरीक्षण की कसौटी पर खरी उतर चुकी हैं और जब भी मैंने उन पर अमल किया है मेरे जीवन में सुख की वृद्धि हुई है। इसीलिए मुझे आशा है कि जो लोग दुःख में आनन्द अनुभव किए बिना दुःख झेलते रहते हैं उनमें से कुछ इस पुस्तक की सहायता से अपने दुःख के कारणों को समझ सकेंगे और इस दशा से निकलने का रास्ता भी उन्हें मिल सकेगा। मेरा विश्वास है कि बहुत-से लोग जो दुःखी हैं, सुनिर्दिष्ट प्रयास के द्वारा सुख की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं; और इसी विश्वास से प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखी है।

खण्ड १

दुःख के कारण

पहला अध्याय

लोग दुःखी क्यों रहते हैं ?

पशु जब तक स्वस्थ रहते हैं और जब तक उन्हें खाने को मिलता रहता है तब तक वे सुखी रहते हैं। मन में यह बात उठती है कि मनुष्यों को सुखी रहना चाहिए, परन्तु आज के संसार में वे सुखी नहीं हैं—कम-से-कम अधिकांश लोग सुखी नहीं हैं। यदि आप स्वयं दुःखी हैं तो आपको यह मानने में शायद संकोच न होगा कि यह दशा केवल आपकी ही नहीं है। यदि आप सुखी हैं तो अपने मन से पूछिए कि आपके कितने मित्र सुखी हैं। अपने मित्रों पर नज़र दौड़ा लेने के बाद आप चेहरे के भावों को पढ़ने की कला सीखिए और दैनिक जीवन में आप जिन लोगों से मिलते हैं उनकी मनोदशा को समझने का प्रयत्न कीजिए।

ब्लेक ने कहा है :

> जिस चेहरे को भी देखता हूँ उस पर कोई-न-कोई चिन्ह दिखाई देता है,
> कमजोरी के चिन्ह और दुःख के चिन्ह ।

आप अनुभव करेंगे कि दुःख आपको हर जगह देखने को मिलता है—हाँ, उसमें रूप-भेद अवश्य होता है। कल्पना कीजिए कि आप न्यूयार्क में हैं, जो विशाल नगरों में आधुनिकता का सबसे अच्छा नमूना है। काम के घण्टों के दौरान में किसी ऐसी सड़क पर जहाँ खूब भीड़-भाड़ हो, या छुट्टी के दिन में किसी मुख्य मार्ग पर अथवा संध्या के समय किसी नाच-घर में खड़े हो जाइये, अपने मन से अहं को निकाल फेंकिये और आस-पास के अपरिचित व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को एक-एक करके आप अपने ऊपर छा जाने दीजिये। आप महसूस करेंगे कि इन विभिन्न जन-समुदायों

में से प्रत्येक की अपनी कोई-न-कोई मुसीबत है। काम पर जाते हुए जन-समुदाय में आपको दिखाई देगी चिन्ता, अत्यधिक एकाग्रता, अजीर्ण-रोग, संघर्ष के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु के प्रति दिलचस्पी का अभाव, क्रीड़ा की अक्षमता और आस-पास के दूसरे लोगों से बे-खबरी। सप्ताहान्त में किसी मुख्य मार्ग पर आपको नर-नारी मनोरंजन के लिए जाते दिखाई देंगे। ये सभी खाते-पीते लोग हैं और इनमें से कुछ तो बहुत धनी हैं। सब मनोरंजन के लिए एक ही गति से जा रहे हैं। यह गति मोटरों व मोटरकारों के जुलूस में सबसे सुस्त चलने वाली कार जैसी गति है। कारों के कारण सड़क को देखना असम्भव है। बाहर का दृश्य देखना भी असम्भव नहीं है, क्योंकि इधर-उधर देखने से दुर्घटना हो सकती है। कारों में बैठे हुए सभी लोगों के मन में दूसरी कारों से आगे निकल जाने की उत्सुकता है, किन्तु भीड़ के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते। यदि उनका मन यहाँ से हटकर किसी दूसरी ओर जाता है, जैसा कि स्वयं कार न चलाने वाले व्यक्तियों के साथ अक्सर होता है, तो उन्हें एक अवर्णनीय उकताहट का अनुभव होने लगता है, जो उनके मुख पर हल्के असन्तोष का भाव उत्पन्न कर देती है। रास्ते में कार में लदे हुए काले आदमियों के झुंड में कभी असली खुशी की झलक मिलेगी, किन्तु उनका असन्तुलित आचरण घृणा का विषय बन जायेगा और अन्ततः कोई दुर्घटना हो जाने के कारण वे पुलिस के हवाले कर दिये जायेंगे। छुट्टी के समय में मौज मनाना कानून के विरुद्ध है।

या फिर हर्षोल्लास में डूबी हुई किसी संध्या में लोगों को देखिये। सब सुखी रहने के दृढ़-संकल्प के साथ आते हैं। यह संकल्प लगभग वैसा ही है जैसा कोई व्यक्ति दाँत के डाक्टर के यहाँ शोर न मचाने के सम्बन्ध में करता है। लोग समझते हैं कि मद्य-पान और कामुक चेष्टाएँ आनन्द का स्रोत हैं। इसलिए वे जल्दी ही पीकर धुत हो जाते हैं और यह जानने की परवाह नहीं करते कि उनके साथियों को उनसे कितनी ऊब हो रही है। बहुत पी लेने के बाद लोग रोने लगते हैं और दुःख प्रकट करते हैं कि नैतिक दृष्टि से वे बहुत गिरे हुए हैं और अपनी माँ के स्नेह

के अधिकारी नहीं हैं। शराब उनके लिए केवल यही करती है कि वह उनकी पापानुभूति को—जिसे विवेक अधिक संज्ञा की अवस्था में दबा देता है—उभार देती है।

विभिन्न प्रकार के इन दुःखों के कुछ कारण तो समाज-व्यवस्था में निहित हैं और कुछ व्यक्ति की मनोवृत्ति में, जो निस्संदेह बहुत हद तक समाज-व्यवस्था की ही उपज है। सुख के उन्नयन के लिए समाज-व्यवस्था में जो परिवर्तन आवश्यक हैं उनके बारे में मैं पहले लिख चुका हूँ। इस पुस्तक में युद्ध, आर्थिक शोषण, क्रूरता और भय की शिक्षा के उन्मूलन की चर्चा करना मेरा उद्देश्य नहीं है। युद्ध-निवारण की प्रणाली का पता चलाना हमारी सभ्यता की एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। परन्तु जब तक लोग इतने दुःखी रहेंगे कि दिन के उजाले को सहन करते रहने की अपेक्षा परस्पर विनाश उन्हें कम भयंकर प्रतीत होगा, तब तक ऐसी प्रणाली की सफलता की आशा नहीं की जा सकती। यदि हम मशीनी उत्पादन का लाभ किसी भी अंश में उन लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं, जिन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है तो यह जरूरी है कि निर्धनता को चिरस्थायी होने से रोका जाए। परन्तु जब धनी स्वयं दुःखी हैं तो सब लोगों को धनी बनाने का क्या लाभ है ? क्रूरता और भय की शिक्षा बुरी है, किन्तु जो लोग स्वयं इन भावनाओं के दास हैं उनसे किसी और शिक्षा की आशा भी कैसे की जा सकती है। ये बातें हमें व्यक्ति की समस्या पर सोचने के लिए बाध्य करती हैं। कोई स्त्री या पुरुष इस समाज में—जहाँ लोग अतीत को याद करके दुःखी रहते हैं—क्या करे जिससे उसे सुख मिल सके ? इस समस्या पर विचार करते हुए मैं अपना ध्यान केवल उन लोगों तक सीमित रखूँगा जो किसी घोर बाहरी संकट में फँसे हुए नहीं हैं। मैं मान लेता हूँ कि खाने और रहने के लिए उनकी आय पर्याप्त है और सामान्य शारीरिक क्रियाओं के लिए उनका स्वास्थ्य ठीक है। समस्त संतति की मृत्यु या लोक-अपमान जैसी घोर विपत्तियों पर भी मैं यहाँ विचार नहीं करूँगा। इनके सम्बन्ध में कहने योग्य बहुत-सी

बातें हैं और ये बहुत महत्त्वपूर्ण भी हैं किन्तु मैं इस समय जो कुछ कहना चाहता हूं वह इनसे भिन्न है। मेरा उद्देश्य तो दैनिक जीवन में अनुभव होने वाले उस साधारण दुःख को मिटाने का उपाय बताना है जिससे सभ्य देशों के अधिकांश लोग पीड़ित रहते हैं। यह दुःख इसलिए और भी असह्य है क्योंकि प्रकटतः उसका कोई बाहरी कारण न होते हुए भी उससे बचना असंभव दिखाई देता है। मेरे विचार में इस दुःख का कारण बहुत हद तक विश्व-सम्बन्धी भ्रामक धारणाएँ, भ्रामक नैतिकता और ग़लत आदतें हैं। इनके कारण उपलब्ध वस्तुओं में नैसर्गिक रस लेने और उनके लिए क्षुधा अनुभव करने की वह वृत्ति नष्ट हो चुकी है जिस पर अंततः सारा सुख—चाहे वह मनुष्य का हो या पशु का—निर्भर है। ये ऐसी बातें हैं जो व्यक्ति के अधिकार-क्षेत्र में हैं और मैं ऐसे परिवर्तन सुझाना चाहता हूं जिनके द्वारा एक साधारण समृद्ध व्यक्ति के लिए सुख की उपलब्धि सम्भव है।

मैं जिस जीवन-दर्शन की पैरवी करना चाहता हूं उसकी सबसे अच्छी भूमिका शायद अपने जीवन के बारे में इन शब्दों में प्रस्तुत की जा सकती है : मैं जन्म से ही दुःखी था। बाल्यावस्था में मेरा सबसे प्रिय मन्त्र था : "संसार से ऊबा हुआ और अपने पाप के बोझ से दबा हुआ।" पांच वर्ष की उम्र में मैं सोचता था कि यदि मुझे सत्तर वर्ष तक जीना पड़ा तो अपने जीवन के चौदह भागों से अभी केवल एक ही भाग व्यतीत कर सका हूं। मुझे अपने सामने फैला हुआ उकताहट का यह लम्बा सिलसिला प्रायः असह्य लगता था। किशोरावस्था में मुझे जीवन से घृणा थी और मैं बराबर आत्म-हत्या करने पर तुला रहता था। परन्तु गणित का कुछ और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ने मुझे आत्म-हत्या से रोके रखा। इसके विपरीत देखिये, अब मैं जीवन में आनन्द लेता हूं। मैं यहां तक कह सकता हूं कि हर बीते हुए वर्ष के साथ मुझे जीवन में अधिक आनन्द आता है। इसका एक कारण तो यह है कि मुझे जिन चीज़ों की सबसे ज्यादा कामना थी उनका मैंने पता लगा लिया और धीरे-धीरे इनमें से बहुत-

सी चीजें मैंने हासिल भी कर लीं। एक और कारण यह था कि मैंने कई कामनाओं को पूरी न होने योग्य समझकर अपने मन से निकाल ही दिया, जैसे किसी-न-किसी चीज का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को। परन्तु सबसे बड़ा कारण यह था कि मैंने अपने-आपमें डूबे रहने की आदत बहुत कम कर दी। उन लोगों की तरह, जिन्हें प्यूरिटन (धर्मनिष्ठ) शिक्षा मिली है, मुझे भी अपने पापों, मूर्खताओं और अपनी कमियों के बारे में सोचते रहने की आदत थी। मैं अपने-आपको एक दयनीय व्यक्ति दिखाई देता था, और निःसन्देह यह सही भी था। धीरे-धीरे मैंने अपने पापों और अपनी खामियों पर ध्यान देना छोड़ दिया। मैं बाहरी चीजों पर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित करने लगा—विश्व की स्थिति पर, ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर और उन लोगों पर जिनसे मुझे स्नेह था। यह सही है कि जिन बाहरी चीजों में हम रुचि लेते हैं उनमें से प्रत्येक किसी-न-किसी पीड़ा का कारण बन सकती है। विश्व में युद्ध छिड़ सकता है, किसी विषय का ज्ञान बहुत दुःसाध्य हो सकता है, मित्रों की मृत्यु हो सकती है। परन्तु आत्म-विरक्ति से पैदा होने वाली पीड़ा की तरह ऐसी पीड़ाएँ जीवन के मूल गुण को नष्ट नहीं करतीं। प्रत्येक बाहरी अभिरुचि से एक ऐसी क्रिया को प्रेरणा मिलती है जो अभिरुचि के बने रहने तक विमनस्कता को पास फटकने नहीं देती। इसके विपरीत अपने-आपमें डूबे रहने की प्रवृत्ति किसी भी प्रगतिशील क्रिया को जन्म नहीं देती। इसका फल यही हो सकता है कि आदमी डायरी (दैनिकी) लिखने लगे। उसे मनोविश्लेषण कराना पड़े या फिर वह साधु बन जाये। परन्तु साधु भी तब तक सुखी नहीं रह सकता जब तक कि मठ की दिनचर्या उसे अपनी आत्मा को भूल जाने पर मजबूर न कर दे। जिस सुख को वह धर्म की देन समझता है वह उसे सड़क पर झाड़ू देने वाला भंगी बनकर भी मिल सकता है, यदि भंगी बने रहने पर उसे मजबूर होना पड़े। बाहरी अनुशासन ही उन अभागों के लिए सुख का एकमात्र साधन है जो इतने अधिक आत्म-निमग्न हैं कि किसी और प्रकार से उन्हें इससे मुक्ति मिल ही नहीं सकती।

आत्म-निमग्नता के अनेक प्रकार हैं। पापी, आत्मासक्त और अहम्मन्य! आइये, हम इन तीन प्रकार के व्यक्तियों पर विचार करें, जो बहुत अधिक देखने को मिलते हैं।

'पापी' से मेरा आशय उस व्यक्ति से नहीं है जो पाप करता है। हमारी व्याख्या के अनुसार पाप या तो सब लोग करते हैं या कोई भी नहीं करता। मेरा आशय उस व्यक्ति से है जो पाप की अनुभूति में निमग्न है। वह सदैव अपने-आपको ही नापसंद करता रहता है और यदि वह धार्मिक है तो इसका अर्थ यह लेता है कि भगवान् उससे प्रसन्न नहीं है। उसे कैसा होना चाहिये, इसकी एक मूर्ति उसके मन में है। वह वास्तव में जैसा है, उसके बोध से यह मूर्ति निरन्तर टकराती रहती है। यदि उसने अपनी चेतना से उन आचार-नियमों को निकाल फेंका है जो उसने अपनी माँ के घुटनों पर बैठकर सीखे थे, तो उसकी पापानुभूति उसके अचेतन की गहराई में दबी हुई हो सकती है और यह नशे अथवा निद्रा की अवस्था में ही उभर सकती है। फिर भी यह प्रत्येक वस्तु के आनन्द को खत्म कर डालने के लिए काफी हो सकती है। बाल्यावस्था में उसे जिन बातों से बचने का उपदेश दिया गया था उन्हें वह अब तक अपने मन के अन्तर्तल में स्वीकार करता है। क़सम खाना बुरा है, मद्य-पान बुरी वस्तु है, सामान्य व्यवहार में धूर्तता से काम लेना बुरा है, और इन सबसे अधिक बुरा है सेक्स (यौनाकांक्षा)। प्रमोद के इन साधनों में से किसी से भी वह नहीं बचता, परन्तु उसकी यह भावना कि इनसे उसमें गिरावट आती है इन सबको विषाक्त कर देती है। जिस आनन्द की कामना उसकी आत्मा उत्कटता से करती है वह यह है कि उसकी माँ उसकी सराहना करते हुए उसे अँकवार में भर ले। उसे याद है कि अपने शैशव-काल में वह इस आनन्द का अनुभव कर चुका है। चूँकि यह आनन्द अब उसे मिल नहीं सकता, इसलिए वह समझ लेता है कि किसी और चीज़ का कोई महत्त्व नहीं है। चूँकि उसे पाप करना चाहिए, इसलिए वह जी खोलकर पाप करने का निश्चय करता है। जब वह किसी से प्रेम

करता है तो भी मातृक स्नेह का इच्छुक होता है, परन्तु वह इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मन में माँ की मूर्ति होने के कारण उसमें ऐसी स्त्री के लिए सम्मान की भावना उत्पन्न नहीं होती जिसके साथ उसका यौन-सम्बन्ध है। तब निराश होकर वह क्रूर बन जाता है, अपनी क्रूरता पर पछताता है और फिर कल्पित पाप तथा ग्लानि की क्लांति-कर परिधि का नये सिरे से चक्कर काटने लगता है। प्रकटतः पुराने पापाचारी दिखाई देने वाले बहुत-से व्यक्तियों की यही मनोवृत्ति है। जो चीज़ उन्हें मार्ग-च्युत करती है वह है एक अप्राप्य उद्देश्य (माता या माता के स्थान पर किसी और स्त्री) के प्रति निष्ठा और शैशवावस्था में मन पर अंकित किये गए हास्यास्पद नैतिक नियम। माँ की नैतिक शिक्षा से प्रभावित इन व्यक्तियों के सुख के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वे शैशव-काल की धारणाओं और प्रभावों के अत्याचार से मुक्ति प्राप्त करें।

आत्मासक्ति की स्थिति, एक दृष्टि से, अभ्यासगत पापानुभूति के विपरीत है। यह अपने-आपको सराहने और दूसरों के द्वारा सराहे जाने की इच्छा रखने की स्थिति है। एक सीमा तक तो यह स्वाभाविक है और उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। लेकिन जब यह इस सीमा का उल्लंघन करती है तभी यह एक भयंकर बुराई का रूप धारण कर लेती है। बहुत-सी स्त्रियों में, विशेषकर धनिक-वर्ग की स्त्रियों में, (उनमें जिन्हें सोसायटी महिला कहते हैं) प्रेम अनुभव करने की क्षमता सर्वथा लुप्त हो जाती है और उसका स्थान यह प्रबल कामना ले लेती है कि सब पुरुष उनसे प्रेम करने लगें। जब किसी ऐसी स्त्री को यह विश्वास हो जाता है कि कोई पुरुष उससे प्रेम करता है तो उसके लिए इस पुरुष की कोई उपयोगिता नहीं रहती। यही बात पुरुषों के साथ भी होती है, यद्यपि अपेक्षाकृत कम। **लायेज़ाँ डांज़ेर्यूज़ेज़** (एक फ्रांसीसी कथा) का नायक इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। जब अहंकार इस सीमा तक पहुँच जाता है तो किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति वास्तविक रुचि नहीं रहती और इसलिए प्रेम से सच्चा संतोष नहीं मिल सकता। अन्य रुचियों के सम्बन्ध

में और भी भयंकर विफलता का सामना करना पड़ता है। उदाहरण-स्वरूप एक आत्मासक्त व्यक्ति महान् चित्रकारों को मिलने वाली श्रद्धा से प्रेरित होकर चित्रकला का छात्र बन सकता है, परन्तु चूँकि चित्रकला उसके लिए उद्देश्य की पूर्ति का साधन-मात्र है, इसलिए शिल्प कभी भी उसके रुचिकर नहीं हो पाता। वह किसी भी चीज को अपने-आपसे अलग करके नहीं देख सकता। परिणामस्वरूप उसे विफलता और निराशा का सामना करना पड़ता है और प्रत्याशित प्रशंसा के स्थान पर उसकी हँसी उड़ाई जाती है। यही स्थिति उन उपन्यास-लेखिकाओं की भी है जो अपने उपन्यासों में अपने-आपको आदर्श बनाकर नायिका के रूप में प्रस्तुत करती हैं। किसी भी कार्य में महत्त्वपूर्ण सफलता तभी मिल सकती है जब कि इस कार्य से सम्बन्धित सामग्री में कुछ वास्तविक रुचि ली जाए। सफल राजनीतिक नेता की दुःखद विफलताएँ इस बात की द्योतक हैं कि समुदाय और अपने विशेष राजनीतिक कार्यों के प्रति उसकी जो रुचि थी उसका स्थान धीरे-धीरे आत्मासक्ति ग्रहण कर रही है। जिस व्यक्ति की रुचि केवल अपने आप तक सीमित हो वह सराहने योग्य नहीं है और न ही उसे ऐसा समझा जाता है। परिणामतः जिस व्यक्ति को संसार से केवल इतना ही सरोकार हो कि वह उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखे, वह शायद अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सकेगा। यदि वह अपना उद्देश्य प्राप्त भी कर ले तो भी वह पूर्णतया सुखी नहीं रह सकेगा, क्योंकि मनुष्य भी स्वभाव से कभी भी पूर्णतया आत्म-केन्द्रित नहीं है और आत्मासक्त व्यक्ति ठीक उसी प्रकार अपने-आपको कृत्रिम रूप से सीमित कर रहा है जिस प्रकार पापानुभूति में निमग्न कोई व्यक्ति। आदिम मानव अच्छा शिकारी होने पर गर्व कर सकता था, किन्तु मृगया में वह आनन्द भी लेता था। अहंकार जब एक विशेष सीमा का उल्लंघन कर लेता है तो वह अपनी तुष्टि के लिए प्रत्येक कार्य से मिलने वाले आनन्द को नष्ट कर डालता है। इस प्रकार उसका परिणाम अनिवार्यतः क्लान्ति और ऊब के रूप में प्रकट होता है। बहुधा आत्म-विश्वास-हीनता अहंकार

का कारण होती है और इसका प्रतिकार आत्म-सम्मान के विकास में निहित है। परन्तु इसकी उपलब्धि ऐसे सफल कार्य-कलापों के माध्यम से होनी चाहिए, जिन्हें वस्तुपरक अभिरुचियों से प्रेरणा मिली हो।

अहम्मन्य और आत्मासक्त व्यक्ति में यह अन्तर है कि वह मोहक बनने के बदले शक्तिशाली बनना चाहता है। वह चाहता है कि लोग उससे प्रेम न करें, बल्कि भय खायें। इस वर्ग के अन्तर्गत बहुत-से पागल और इतिहास के अधिकांश महान् व्यक्ति आते हैं। अहंकार की भांति शक्ति का मोह भी साधारण मानव-स्वभाव का एक प्रबल अंग है और इसलिए उसे स्वीकार करना आवश्यक है। यह आपत्तिजनक तभी होता है जब वह सीमोल्लंघन कर ले या उसका सम्बन्ध वास्तविकता के अपर्याप्त बोध से जुड़ जाए। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर आदमी दुःखी और मूर्ख, दोनों नहीं तो इनमें से एक अवश्य हो जाता है। यदि कोई पागल अपने-आपको राजा समझता है, तो यह सोचकर वह एक प्रकार से सुख का अनुभव कर सकता है परन्तु उसका यह सुख ऐसा नहीं है जिससे किसी समझदार व्यक्ति को ईर्ष्या होगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महान् सिकन्दर भी पागलों के वर्ग में ही आता है, यद्यपि उसमें पागल के स्वप्न को साकार करने की सामर्थ्य थी। परन्तु वह अपने स्वप्न को—जो उसकी सफलताओं के साथ-साथ बढ़ता गया—साकार न कर सका। जब यह निश्चित हो गया कि वह संसार का सबसे बड़ा विजेता है तो उसने ईश्वर बनने का निश्चय कर लिया। क्या वह सुखी मानव था? उसकी पीने की लत, उसकी क्रोधोन्मत्तता, स्त्रियों के प्रति उदासीनता, ईश्वर होने की घोषणा—ये सब बातें बताती हैं कि वह सुखी नहीं था। मानव-स्वभाव के किसी एक अंग को दूसरे सभी अंगों की उपेक्षा करते हुए विकसित करने में परम संतोष नहीं मिल सकता। इसी प्रकार सारे संसार को अपने अहं की शोभा-निर्माण की सामग्री समझने से भी परम सन्तोष की उपलब्धि सम्भव नहीं है। साधारणतया अहम्मन्य व्यक्ति—चाहे वह पागल हो या नाममात्र को प्रकृत—किसी घोर अपमान की

उपज होता है। नेपोलियन जब स्कूल में पढ़ता था तो अपने सहपाठियों को देखकर उसके मन में हीनत्व की भावना उत्पन्न होती थी, क्योंकि वे सब धनिक कुलीन वर्ग के लड़के थे जबकि वह स्वयं एक दरिद्र वृत्ति-भोगी छात्र था। जब उसने उत्प्रवासियों को देश में लौटने की अनुमति दी तो उसे अपने पुराने सहपाठियों को अपने आगे सिर झुकाते देखकर सन्तोष का अनुभव हुआ। यह भी क्या सुख था ! और फिर इसी प्रकार का सन्तोष उसने ज़ार को नीचा दिखाकर प्राप्त करना चाहा, जिसके परिणामस्वरूप उसे सेंट हेलेना जाना पड़ा। कोई भी व्यक्ति सर्व-शक्ति-मान नहीं हो सकता, इसलिए जिस व्यक्ति के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शक्ति का मोह हो उसे कभी-न-कभी ऐसी कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता है जिन्हें वशीभूत करना सम्भव नहीं होता। किसी-न-किसी प्रकार के उन्माद के कारण ही मनुष्य इस तथ्य का बोध करने में असमर्थ रहता है, यद्यपि कोई व्यक्ति बहुत शक्तिशाली हो तो वह इस तथ्य की ओर संकेत करने वाले लोगों को क़ैद कर सकता है या प्राण-दण्ड दे सकता है। इस प्रकार राजनीतिक और मानसिक क्षेत्रों में दमन की क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। और जहाँ मनोविश्लेष-णात्मक दमन होता है वहाँ वास्तविक सुख नहीं होता। शक्ति को उचित सीमाओं के भीतर रखा जाए तो वह बहुत सुख-संवर्धन कर सकती है, परन्तु जीवन के एकमात्र उद्देश्य के रूप में वह बाहरी दृष्टि से नहीं भी हो तो आन्तरिक दृष्टि से विनाशकारी ही सिद्ध हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि दुःख के मनोवैज्ञानिक कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, परन्तु इन सबमें कोई-न-कोई तत्त्व समान रूप से मिलता है। वास्तव में दुःखी व्यक्ति वह है जो युवावस्था में किसी सामान्य तुष्टि से वंचित हो जाने के कारण इस विशेष तुष्टि को दूसरी सभी तुष्टियों से अधिक महत्त्व देने लगा है और इसलिए उसने अपने जीवन को केवल एक ही दिशा में मोड़ रखा है। इसके साथ ही उसने इसकी उपलब्धि को अत्यधिक महत्त्व दे दिया है जब कि उपलब्धि से सम्बन्धित कार्य-

कलाओं पर वह अपेक्षाकृत बहुत कम बल देता है। इसके अतिरिक्त एक और बात है जो आजकल बहुत देखने को मिलती है। कोई व्यक्ति इतना अधिक हताश हो सकता है कि विमुखता और शून्यता के अतिरिक्त वह किसी भी प्रकार की तुष्टि का इच्छुक न रहे। ऐसी अवस्था में वह 'आनन्द' का भक्त बन जाता है, अर्थात् कम सचेत होकर वह जीवन को सह्य बनाना चाहता है। उदाहरणस्वरूप, मद्य-पान अस्थायी आत्म-हत्या है। इससे जो सुख मिलता है वह केवल निषेधात्मक है। यह दुःख का क्षणिक विराम है। आत्मासक्त और अहम्मन्य, दोनों विश्वास करते हैं कि सुख सम्भव है। यह और बात है कि वे सुख प्राप्त करने के लिए गलत साधनों का उपयोग करते हैं। परन्तु जो व्यक्ति नशे का—चाहे उसका रूप कुछ भी हो—इच्छुक हो जाता है वह शून्यता के अतिरिक्त और सब ओर से निराश हो चुका है। उसको सबसे पहले इस बात का विश्वास दिलाना आवश्यक है कि सुख वांछनीय है। जो लोग दुःखी रहते हैं वे अपने दुःखी होने पर हमेशा गर्व अनुभव करते हैं—ठीक उसी तरह जिस तरह बहुत ज्यादा सोने वाले लोग अपनी इस आदत पर गर्व करते हैं। कदाचित् उनका गर्व उस लोमड़ी के गर्व के समान है जो अपनी पूँछ से वंचित हो गयी थी। यदि यह स्थिति हो तो इसका प्रतिकार यही है कि उनको बताया जाये कि नई पूँछ किस प्रकार उग सकती है। मेरा विश्वास है, यदि सुखी रहने का उपाय मालूम हो जाये तो बहुत थोड़े लोग जान-बूझकर दुःखी रहना पसंद करेंगे। मैं स्वीकार करता हूँ कि दुःखी लोग भी संसार में हैं परन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं है कि उसे महत्त्वपूर्ण माना जाए। इसलिए मैं यह मान लेता हूँ कि इस पुस्तक के पाठक सुखी रहना चाहते हैं, न कि दुःखी। मैं नहीं जानता कि उनकी यह इच्छा पूरी करने में मैं योग दे सकूँगा भी या नहीं ? फिर भी प्रयत्न करने में तो कोई हानि है नहीं।

दूसरा अध्याय

नियति-गत दुःख

विश्व-इतिहास के कई दूसरे युगों की भाँति हमारे युग में भी लोगों की सामान्य धारणा है कि जो लोग बुद्धिमान हैं वे अतीत के सारे उत्साह के मूल-तत्त्व को समझ चुके हैं और यह जान गये हैं कि अब कोई ऐसी चीज़ नहीं बची है जिसके लिए जिया जाये। जिन लोगों की यह धारणा है कि वे वास्तव में दुःखी रहते हैं परन्तु वे अपने दुःखी होने पर गर्व अनुभव करते हैं, वे इस दुःख का सम्बन्ध विश्व की प्रकृति से जोड़ते हैं और समझते हैं कि प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए केवल यही एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण हो सकता है। जिन लोगों के स्वभाव में कृत्रिमता अपेक्षाकृत कम होती है उन्हें इस दुःख के सत्य होने में सन्देह होता है। उनके विचार में जो व्यक्ति दुःखी होने में आनन्द लेता है वह दुःखी नहीं है। यह बहुत ही भोलेपन की धारणा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के दुःखी व्यक्तियों में जो श्रेष्ठता की भावना और अन्तर्दृष्टि होती है इससे इसका थोड़ा-बहुत प्रतिकार हो जाता है, परन्तु साधारण खुशियों की क्षय की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त नहीं है। मेरा भी यही विचार है कि दुःखी रहने में कोई उच्चतर विवेकशीलता नहीं है। बुद्धिमान् व्यक्ति परिस्थितियों के अनुसार जहाँ तक सम्भव होगा सुखी रहेगा और यदि एक विशेष सीमा पर पहुंचकर विश्व के बारे में सोचना व्यथा का कारण बन जाए तो वह किसी और विषय पर सोचना पसन्द करेगा। इस अध्याय में मैं यही सिद्ध करना चाहता हूँ। मैं पाठक को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि दलीलें चाहे कुछ भी दी जायें, बुद्धि सुख के मार्ग में कोई बाधा उत्पन्न

नहीं करती। इतना ही नहीं, मैं यह भी मानता हूँ कि जो लोग अपनी विश्व-सम्बन्धी धारणाओं को ही अपने दुःखों का कारण मानते हैं वे बैल को गाड़ी में उलटे जोत रहे हैं। सच तो यह है कि वे किसी ऐसे कारण से दुःखी हैं जिसे वह जानते नहीं और उनका दुःख उन्हें अपने जगत की ऐसी विशेषताओं पर विचार करने के लिए उन्मुख करता है जो कम मनोनुकूल हैं।

मैं जिस दृष्टिकोण पर विचार करना चाहता हूँ उसका प्रतिपादन इस युग में अमेरिका-वासियों के लिए श्री जोसेफ़ उड क्रच ने अपनी पुस्तक द मॉडर्न टेम्पर में किया है। हमारे पितामह की पीढ़ी के लिए इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन (सुप्रसिद्ध कवि) बायरन ने किया था और समस्त युगों के लिए इक्लेज़्यास्ट के लेखक ने। श्री क्रच लिखते हैं—"हम अपने ध्येय में विफल रहे हैं और सृष्टि में हमारे लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु यह सब होते हुए भी हमें मानव होने पर दुःख नहीं है। पशु बनकर जीने की अपेक्षा मानव रहते हुए मर जाना हम ज्यादा पसन्द करेंगे। बायरन ने लिखा है :

> संसार जो आनन्द छीन लेता है वैसा आनन्द दे नहीं सकता।
> नया विचार एक दीप्ति के साथ उदित होता है किन्तु उसका अवसान भावना की निस्तेज क्षीणता में हो जाता है।

इक्लेज़्यास्ट के लेखक ने लिखा है :

> इसीलिए मैंने उन प्राणियों की तुलना में, जो अभी तक जीवित हैं, उनकी अधिक प्रशंसा की है जो मर चुके हैं।
>
> हाँ, इन दोनों से अच्छा वह है जो अभी तक संसार में नहीं आया है, जिसने उस दुष्कर्म को नहीं देखा है जो संसार में होता रहता है।

ये तीनों निराशावादी जीवन की खुशियों पर विचार करने के बाद इन विवादजनक निष्कर्षों पर पहुँचे। श्री क्रच न्यूयार्क की श्रेष्ठतम बौद्धिक मंडलियों में रहे हैं। बायरन विरह की व्यथा के सागर में भी तैरा था और उसने असंख्य स्त्रियों से प्रेम भी किया था।

आनन्द की खोज की दृष्टि से इक्लेज्यास्ट के लेखक का जीवन और भी वैविध्यपूर्ण था। उसने शराब पीकर देखा, संगीत में, 'सभी प्रकार के संगीत में' रुचि ली और तालावों का निर्माण कराया। उसके पास दास भी थे और दासियाँ भी और ऐसे अनुचर भी जो उसके घर में उत्पन्न हुए थे। इन परिस्थितियों में भी उसकी ज्ञानवत्ता उससे अलग नहीं हुई। फिर भी वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि सब-कुछ अंहकार है, यहाँ तक कि ज्ञान भी।

> और मैंने ज्ञान को और उन्माद तथा मूर्खता को समझने का प्रयत्न किया : मुझे बोध हुआ कि यह भी आत्मा को कष्ट देना ही है।
>
> क्योंकि बहुत अधिक ज्ञान में बहुत अधिक दुःख है, और जो ज्ञान में वृद्धि करता है वह दुःख में वृद्धि करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी ज्ञानवत्ता ने उसे विरक्त कर दिया था। उसने इससे मुक्त होने के असफल प्रयत्न किये।

> मैंने मन में कहा, अब जा, मैं हर्ष से तेरी परीक्षा करूँगा, इसलिए खूब आनन्द लूटो: और देखो, यह भी अहंकार ही है।

परन्तु उसकी ज्ञानवत्ता ने उसका साथ नहीं छोड़ा।

> तब मैंने मन में कहा, जैसा मूर्ख के साथ होता है वैसा ही मेरे साथ भी होता है। फिर मैं अधिक ज्ञानवान् कैसे था? तब मैंने मन में कहा कि यह भी अहंकार है।
>
> इसलिए मुझे जीवन से घृणा हो गयी—क्योंकि संसार में जो काम भी किया जाता है वह मेरे लिए दुःखदायी होता है, क्योंकि सब-कुछ अहंकार है और आत्मा के लिए कष्टदायी।

साहित्यिक सज्जनों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि लोग बहुत पहले लिखी गई रचनाओं को अब नहीं पढ़ते। यदि वे पढ़ते होते तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते कि तालाबों के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहा जाए नयी पुस्तकों की रचना निस्सन्देह अहंकार है। यदि हम यह दिखा सकें कि इक्लेज्यास्ट में अभिव्यक्त सिद्धात ही केवल ऐसा सिद्धान्त नहीं है

जो किसी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए स्वीकार्य हो तो हमें इसी मनोदशा की परवर्ती अभिव्यक्तियों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस प्रकार के विवेचन में मनोदशा और उसकी बौद्धिक अभिव्यक्ति में भेद करना आवश्यक है। मनोदशा पर बहस करने की आवश्यकता नहीं है। यह किसी सुखद घटना या हमारी शारीरिक दशा में परिवर्तन होने से बदल सकती है, परन्तु तर्क उपस्थित करने से इसमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। स्वयं मेरी अक्सर ऐसी मनोदशा रही है जिसमें मुझे यही लगा कि सब-कुछ अहंकार है। इस मनोदशा से मुझे किसी दर्शन द्वारा मुक्ति नहीं मिली, वरन् क्रिया की किसी अनिवार्य आवश्यकता से ही मिली। यदि आपका लड़का बीमार है तो आप दुःखी तो हो सकते हैं परन्तु आप यह नहीं सोचेंगे कि सब-कुछ अहंकार है। मानव-जीवन में कोई परम मूल्य है या नहीं, इस प्रश्न पर कोई ध्यान न देते हुए आप यही महसूस करेंगे कि लड़के को रोग से मुक्त करने का उपाय करना चाहिए। कोई धनिक व्यक्ति यह सोच सकता है—और अक्सर सोचता भी है—कि सब-कुछ अहंकार है परन्तु यदि वह अपना धन गँवा बैठे तो वह महसूस करेगा कि इस दुर्घटना के तुरन्त बाद उसने जो भोजन किया था वह किसी भी प्रकार से अहंकार नहीं था। स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत आसानी से होने के कारण ही ऐसी भावना उत्पन्न होती है। अन्य प्राणियों की तरह मानव-प्रकृति में भी जीवन-संघर्ष में भाग लेने की निश्चित सामर्थ्य होती है और जब मानव अपरिमित धन की सहायता से बिना उद्यम किये ही अपनी हर झक को पूरा करने में समर्थ हो जाता है तो उसके जीवन की उद्यम-हीनता ही सुख के एक मुख्य तत्त्व को नष्ट कर डालती है। जब किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुएँ बहुत आसानी से मिल जाती हैं जिनके लिए उसे बहुत मामूली दर्जे की कामना होती है, तो वह यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि कामना की पूर्ति से सुख नहीं मिलता। यदि वह दार्शनिक स्वभाव का है तो समझ बैठता है कि मानव-जीवन मूलतः दुःखदायी है, क्योंकि जिस व्यक्ति की सब आवश्यकताएँ पूरी हो

चुकी हैं वह भी दुःखी है। वह भूल जाता है कि वांछित वस्तुओं में से कुछ का न मिलना सुख का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

यहाँ तक तो मनोदशा की बात थी पर इक्लेज्यास्ट में बौद्धिक विवेचना भी है।

> नदियाँ समुद्र में जाकर गिरती हैं, फिर भी समुद्र नहीं भरता।
> संसार में कोई भी वस्तु नयी नहीं है।
> पूर्व-कालीन वस्तुओं की कोई स्मृति नहीं है।
> मुझे उस सारे परिश्रम से घृणा हो गयी जो मैंने इस संसार में किया :
> क्योंकि उसे मुझे उस व्यक्ति के लिए छोड़ना पड़ेगा जो मेरे बाद आएगा।

यदि कोई इन दलीलों को आधुनिक दार्शनिक की शैली में प्रस्तुत करना चाहे तो इनका रूप कुछ इस प्रकार होगा : मनुष्य निरन्तर परिश्रम कर रहा है और पदार्थ निरन्तर गतिमान है, फिर भी किसी वस्तु में स्थायित्व नहीं है, यद्यपि उसके उपरान्त जो नयी वस्तु आती है वह उससे किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं है जो पहले जा चुकी है। आदमी मर जाता है और उसके परिश्रम का लाभ उसका उत्तराधिकारी उठाता है। नदियाँ समुद्र में जाकर गिरती हैं परन्तु उनका जल वहाँ रुक नहीं सकता। बार-बार एक अनन्त निरुद्देश्य चक्र के रूप में वस्तुएँ और आदमी पैदा होते हैं और मर जाते हैं—बिना किसी उन्नति के, बिना किसी स्थायी सफलता के। इसी प्रकार दिन-पर-दिन और साल-पर-साल बीतते रहते हैं। नदियों में अगर बुद्धि होती तो वे वहीं टिकी रहतीं जहाँ हैं। सुलेमान में बुद्धि होती तो वह ऐसे वृक्ष नहीं लगाता जिनके फल उसके बेटे को मिलने वाले हों।

परन्तु एक दूसरी मनोदशा में यह सब कितना भिन्न दिखाई देता है। संसार में क्या कोई भी वस्तु नयी नहीं है? गगन-चुम्बी भवन, हवाई जहाज, राजनीतिज्ञों के रेडियो द्वारा प्रसारित भाषण—ये सब क्या हैं? सुलेमान[1] को ऐसी वस्तुओं का क्या ज्ञान था? यदि वह शेबा की रानी

---

१. वास्तव में सुलेमान 'इक्लेज्यास्ट' का लेखक नहीं था, परन्तु सुविधा की दृष्टि से लेखक को यह नाम देना उचित समझा गया।

को उसके राज्य से लौटने के वाद अपनी प्रजा के सामने भाषण देते हुए वायरलेस पर सुन सकता तो क्या उसे अपने व्यर्थ ही लगाए वृक्षों और बेसूद तालावों के वीच सांत्वना न मिलती? यदि उसके पास कोई अखवारों से खवरों की कतरनें सप्लाई करने वाली एजेंसी होती, जो उसके द्वारा वनवाई गई इमारतों के स्थापत्य के सौन्दर्य, उसके हरम की सुख-सुविधाओं और उससे वहस करने वाले प्रतियोगी ऋषियों की खिन्नताओं के सम्बन्ध में अखवारों में प्रकाशित समाचारों से उसे अवगत करा सकती, तो भी क्या वह यही कहता रहता कि संसार में कोई वस्तु नयी नहीं है। सम्भव है कि इनसे उसकी निराशा पूर्ण रूप से दूर न हो पाती परन्तु तव उसे इसको किसी और ढंग से व्यक्त करना पड़ता। हमारे युग से श्री क्रच को एक शिकायत यह भी है कि संसार में वहुत-सी नयी वस्तुएँ हैं। यदि नवीनता का अभाव और उसकी विद्यमानता, दोनों ही समान रूप से विरक्तिकर हैं तो इन दोनों में से कोई शायद ही निराशा का असली कारण हो। फिर इस तथ्य को लीजिए: "सव नदियां समुद्र में जाकर गिरती हैं, फिर भी समुद्र नहीं भरता, नदियां जहां से निकलती हैं फिर वहीं लौट जाती हैं।" यदि इसे निराशा का कारण मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि यात्रा आनन्द-हीन कार्य है। लोग गर्मियों में स्वास्थ्योपयोगी स्थानों में जाते हैं, परन्तु वे फिर अपने-अपने स्थान पर लौट आते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि गर्मियों में स्वास्थ्योपयोगी स्थानों में जाना व्यर्थ है। यदि जल में अनुभूति की सामर्थ्य होती तो शेली के क्लाउड (एक कविता) की भाँति वह भी शायद इस साहसपूर्ण घटना-चक्र का आनन्द लेता। जहां तक वस्तुओं को अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ जाने के वारे में होने वाली व्यथा का सम्वन्ध है इस पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। उत्तराधिकारी की दृष्टि से यह स्पष्टतः कम हानिकारक है। इसी प्रकार यह वात कि सव वस्तुएँ नश्वर हैं, निराशा का कारण नहीं हो सकती। यदि उनके स्थान पर और भी वुरी वस्तुएँ आतीं तो यह निराशा का कारण नहीं हो सकता

था, परन्तु यदि उनके स्थान पर अधिक अच्छी वस्तुएँ आती हैं तो यह आशावाद का ही आधार हो सकता है। यदि सब वस्तुएँ ठीक अपनी ही जैसी वस्तुओं के लिए स्थान रिक्त करतीं—जैसा कि सुलेमान का विचार है—तो क्या होता? क्या इससे पूरी प्रक्रिया व्यर्थ ही नहीं होती? निस्सन्देह तब तक नहीं, जब तक कि चक्र की अनेक अवस्थाएँ भी स्वयं कष्टदायी न हों। भविष्य की ओर देखते रहना और यह सोचना कि वर्तमान की सारी सार्थकता इस बात में है कि वह क्या लाता है, एक हानिकारक प्रवृत्ति है। जब तक कि अनुभागों में मूल्य न हो तब तक पूर्ण में कोई मूल्य नहीं हो सकता। जीवन की संकल्पना किसी ऐसे सनसनीदार सुखान्त नाटक के समान नहीं होनी चाहिए जिसमें नायक और नायिका को अविश्वसनीय आपदाओं का सामना करना पड़ता है और फिर इनके बदले अन्त में उन्हें सुख मिल जाता है। जब तक मैं जीवित हूँ, अपना जीवन भोगता हूँ, मेरे बाद मेरा पुत्र अपना जीवन भोगता है और उसके बाद उसका पुत्र। इसमें ऐसी क्या बात है जो बहुत दुःखदायी हो? इसके विपरीत यदि मुझे सदा के लिए जीवित रहना पड़ता तो अन्त में जीवन की सब खुशियाँ अनिवार्यतः अपना रस खो बैठतीं। वर्तमान परिस्थिति में वे बराबर नयी बनी रहती हैं।

> जीवन की अग्नि पर मैंने अपने दोनों हाथ सेंके।
> यह बुझ रही है, और मैं भी चलने को तैयार हूँ।

यह दृष्टिकोण उतना ही बुद्धि-संगत है जितना कि मृत्यु के प्रति तीव्र घृणा का। यदि मनोदशा का निर्णय तर्क द्वारा करना ही पड़े तो प्रसन्नता के पक्ष में भी उतने ही तर्क दिये जा सकते हैं जितने कि निराशा के पक्ष में।

इक्लेज्यास्ट त्रासिक है जब कि श्री क्रच की पुस्तक द मॉडर्न टेम्पर कारुणिक है। श्री क्रच दुःखी हैं क्योंकि पुराने मध्ययुगीन विश्वास धराशायी हो चुके हैं और साथ ही कुछ ऐसे विश्वास भी जो अपेक्षाकृत हाल के हैं। वह लिखते हैं: "जहाँ तक इस दुःखमय काल का सम्बन्ध है यह

किसी भूत लोक की प्रेतात्मा से आक्रान्त है और यह अभी तक अपने-आपको पा नहीं सका है। इसकी विपन्नता उस किशोर की विपन्नता से भिन्न नहीं है जिसने अभी तक पौराणिक कथाओं (जिनके बीच उसने अपना शैशव बिताया था) की सहायता के बिना अपने-आपको समझना नहीं सीखा है।" यह कथन एक विशेष बौद्धिक-वर्ग के सम्बन्ध में पूर्णतया सही है। यह वर्ग उन बौद्धिकों का है जो अपनी साहित्यिक शिक्षा के कारण आधुनिक संसार के बारे में कुछ भी नहीं जान सकते। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी युवावस्था में विश्वास को भावना पर आधारित करना सीखा है जिसके परिणामस्वरूप वे सुरक्षा और आश्रय की उस बालोचित इच्छा से मुक्त नहीं हो सकते जिसे विज्ञान-जगत् तुष्ट नहीं कर सकता। अन्य साहित्यिकों की भाँति श्री क्रच के मन में भी यह बात समायी हुई है कि विज्ञान ने अपने आश्वासन पूरे नहीं किए। वह यह नहीं बताते कि ये, आश्वासन क्या थे, परन्तु वह ऐसा सोचते दिखाई देते हैं कि साठ वर्ष पूर्व डार्विन और हक्सले जैसे व्यक्तियों को विज्ञान से कुछ आशाएँ थीं जिन्हें वह पूरा न कर सका। मेरे विचार में यह बिल्कुल भ्रम है और इसके पोषक वे लेखक और पादरी हैं जो यह नहीं चाहते कि लोग उनकी विशेषताओं को महत्त्वकीन समझने लगें। यह सही है कि आजकल निराशावादियों की संख्या बहुत अधिक है। जिस युग में भी ऐसे लोगों की संख्या—जिनकी आमदनी घट गई हो—बहुत अधिक रही है उस युग में सदा ही बहुत-से निराशावादी हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं की श्री क्रच अमरीकी हैं और युद्ध से अमेरिका की आय में कुल मिलाकर वृद्धि ही हुई है, परन्तु सारे यूरोप महाद्वीप में बौद्धिक वर्गों को घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा जब कि स्वयं युद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति के मन में अस्थिरता का भाव उत्पन्न कर दिया। किसी युग की मनोदशा का जितना गहरा संपर्क ऐसे सामाजिक कारणों से होता है उतना उस युग के विश्व-प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्त से नहीं होता। तेरहवीं शताब्दी से अधिक निराशाजनक युग बहुत कम हुए हैं, यद्यपि वह विश्वास, जिसके

लिए श्री क्रच इतने दुःखी हैं, उस युग में सम्राट् और इटली के कुछ महान् अभिजात व्यक्तियों को छोड़कर हर व्यक्ति के मन में था। रॉजर बेकन ने लिखा है—"अतीत के किसी भी युग की अपेक्षा पाप का साम्राज्य हमारे युग में अधिक व्यापक है और पाप तथा ज्ञान परस्पर विरोधी हैं। हम दुनिया की सभी परिस्थितियों को देखें और उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। हमें असीम भ्रष्टाचार देखने को मिलेगा और सबसे पहले ऊपरी सिरे पर...दुराचार सारे राज्य का कलंक है और इन्द्रिय-लोलुपता का साम्राज्य फैला है।...जब ऊपरी सिरे का यह हाल है तो नीचे का क्या पूछना? बड़े पादरियों को देखिये, वे किस प्रकार धन के लिए मारे-मारे फिरते हैं और पापात्माओं की मुक्ति के कर्त्तव्य से विमुख रहते हैं। पादरियों की अनेक श्रेणियों को देखिए—मैं जो-कुछ कह रहा हूं वह सब पर लागू होता है। देखिये कि उनमें कितना पतन आ गया है। और (फ्रायर की) नयी श्रेणियों को लीजिए, वे अपना पहला गौरव खोकर अत्यन्त अवनति-ग्रस्त हो गई हैं। पूरा पादरी-समुदाय घमण्ड, दुराचार और लोभ में डूबा हुआ है। जहाँ कहीं भी पादरी एकत्र होते हैं—जैसे पेरिस और ऑक्स-फ़ोर्ड में—अपने युद्धों, झगड़ों और दूसरी बुराइयों से पूरे जन-समुदाय को कलंकित करते हैं।...सब अपनी-अपनी लालसाओं की पूर्ति में लगे हुए हैं, कोई इसकी परवाह नहीं करता कि क्या हो रहा है और कैसे हो रहा है।" प्राचीन काल के ग़ैर-ईसाई महापुरुषों की चर्चा करते हुए वह लिखता है: "भद्रता की दृष्टि से और धन-सम्मान और सुख के संसार से घृणा करने की दृष्टि से भी उनका जीवन हमारी अपेक्षा इतना अधिक अच्छा था कि हम उनके पासंग भी नहीं हैं। अरस्तू, सेनॅका तुली, अविसिना, अलफ़ाराबियस, प्लेटो, सुकरात और अन्य महापुरुषों की कृतियों को पढ़कर यह बात स्पष्ट हो सकती है और यही कारण है कि उन्होंने बुद्धिमत्ता के रहस्यों को पा लिया और सम्पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि कर ली।" रॉजर बेकन के मतानुसार उसके समकालीन साहित्यकारों में से कोई भी अपने युग को पसन्द नहीं करता था। एक

क्षण के लिए भी मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि इस निराशावाद के कारण आध्यात्मिक थे। इसके कारण थे—युद्ध, निर्धनता और हिंसा।

श्री क्रच ने अपनी पुस्तक के जिस अध्याय में प्रेम की विवेचना की है वह बहुत ही करुणाजनक है। इसको पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि विक्टोरिया-युग के लोगों की प्रेम के प्रति बहुत श्रद्धा थी, परन्तु हम लोगों ने अपनी आधुनिक सांसारिकता से उसकी वास्तविकता को समझ लिया है। "विक्टोरिया-युग के अधिक संशयशील व्यक्तियों की दृष्टि में प्रेम ईश्वर के कुछ कार्यसम्पन्न करता था जिसे वे खो चुके थे। इसकी अनुभूति होने पर बहुत अधिक भौतिक प्रवृत्ति के व्यक्ति भी कुछ समय के लिए अध्यात्मोन्मुख हो जाते थे। उन्हें अपने सम्मुख किसी ऐसी वस्तु का बोध होने लगता था जो उनके मन में एक अभूतपूर्व श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर देती थी और जिसके प्रति वे अपने अस्तित्व की गहराई में एक निर्प्रतिबंध निष्ठा का अनुभव करते थे। उनकी दृष्टि में ईश्वर की भाँति प्रेम भी हर प्रकार का त्याग चाहता है, परन्तु ईश्वर की भाँति वह भी विश्वासी के लिए जीवन की सभी घटनाओं में ऐसी सार्थकता भर सकता है जिसका विश्लेषण अभी तक नहीं हो सका है। ईश्वर-हीन संसार में रहने का अभ्यास हमें उनसे अधिक है, परन्तु अभी तक हमें ऐसे संसार में रहने का अभ्यास नहीं हुआ है जो प्रेम-विहीन भी है और ऐसा होने पर ही हम समझ सकेंगे कि नास्तिकता का वास्तव में क्या अर्थ है।" यह दिलचस्प बात है कि हमारे युग के युवकों को विक्टोरिया-युग जैसा प्रतीत होता है वह उससे कितना भिन्न है जो उस युग के व्यक्ति को प्रतीत होता था। मुझे स्मरण है कि मैं युवावस्था में दो ऐसी वृद्ध महिलाओं से भली भाँति परिचित था जो विक्टोरिया-युग की कुछ विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। इनमें से एक प्यूरिटन थीं और दूसरी वॉल्तेयर की भक्त। पहली महिला को इस बात का दुःख था कि काव्य में प्रेम का—जो एक अरुचिकर विषय है—इतना अधिक वर्णन होता है। दूसरी महिला का कहना था—"कोई भी व्यक्ति मेरे

विरुद्ध कुछ नहीं कह सकता, परन्तु मैं यही कहती हूँ कि सेवेन्थ कमान्डमेन्ट (सातवीं आज्ञा) का उल्लंघन करना इतना बुरा नहीं है जितना कि सिक्स्थ कमान्डमेन्ट (छठी आज्ञा) का, क्योंकि उसके लिए हर हाल में दूसरे पक्ष की सहमति आवश्यक होती है।" इन दोनों विचारों में से कोई ठीक उस प्रकार का नहीं है जिसे श्री क्रच विक्टोरिया-युग का वतलाते हैं। उन्होंने ये विचार स्पष्टतः कुछ ऐसे लेखकों से ग्रहण किये हैं जो किसी भी प्रकार से अपने वातावरण के समनुरूप नहीं थे। मेरी दृष्टि में इसका सवसे अच्छा उदाहरण रॉवर्ट व्राउनिंग हैं। मैं यह सोचे विना नहीं रह सकता कि उनके काव्य में प्रेम की जो संकल्पना मिलती है उसमें कुछ घुटन-सी है।

> धन्य है ईश्वरः उसके सवसे अधम जीव की
> एक ही आत्मा के दो रूप होते हैं : एक संसार का सामना करने के लिए
> और दूसरा स्त्री को प्रेम करने के लिए।

इसका अर्थ यह होता है कि समूचे संसार के प्रति एक ही प्रकार की प्रवृत्ति अपनाना सम्भव है और वह है लड़ने की। क्यों? व्राउनिंग का उत्तर होगा—क्योंकि संसार क्रूर है। हम कहेंगे—क्योंकि संसार आपको उतना महत्त्व नहीं देता जितना आप अपने-आपको देते हैं। व्राउनिंग दम्पती की भाँति पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रशंसक वन सकते हैं। यदि आपके पास कोई ऐसा व्यक्ति हो जो आपकी रचना की सदा प्रशंसा करे, चाहे रचना इस योग्य हो या नहीं, तो आपको वहुत प्रसन्नता होती है। और जव व्राउनिंग ने आरोरा लेइ की प्रशंसा न करने के गुरु अपराध के लिए फ़िट्ज़जेराल्ड की निन्दा ऐसी भाषा में की, जो किसी भी प्रकार सन्तुलित नही थी, तो उन्होंने निस्सन्देह इसे अपना पौरुष ही समझा होगा। दोनों पक्षों में आलोचनात्मक शक्ति के इस अभाव को मैं प्रशंसनीय नहीं समझ सकता। इसका सम्वन्ध निष्पक्ष समालोचना के तेज़ थपेड़ों के भय और उनसे वचने की इच्छा से है। वहुत-से वूढ़े अविवाहित व्यक्तियों को कुछ इसी प्रकार का सन्तोष अपने घर में अंगीठी से प्राप्त होता है। मैंने विक्टोरिया-युग में इतना अधिक जीवन विताया है कि श्री क्रच के माप-

दण्ड के अनुसार मैं आधुनिक युग का व्यक्ति नहीं हो सकता। प्रेम के प्रति मेरा विश्वास आज भी ज्यों-का-त्यों है, परन्तु जिस प्रकार के प्रेम में मुझे विश्वास है वह वैसा नहीं है जिसके प्रशंसक विक्टोरिया-युग के लोग थे। मैं जिस प्रेम में विश्वास करता हूँ उसमें साहस है, औत्सुक्य है और जहाँ वह मंगल से अवगत कराता है वहाँ अमंगल को भूल जाने की शिक्षा नहीं देता, और न ही वह पवित्र या पूज्य होने का ढोंग करता है। जिस प्रकार के प्रेम की पहले प्रशंसा की जाती थी, उसमें ये गुण खोजने की वृत्ति सेक्स को हौआ बनाने के कारण थी। विक्टोरिया-युग के व्यक्ति का दृढ़ विश्वास था कि सेक्स अमंगल है और जिस प्रकार के सेक्स को वह स्वीकृति दे सकता था उसमें उसे अत्युक्तिपूर्ण विशेषण जोड़ने पड़ते थे। आज की अपेक्षा उस युग में अधिक यौन-क्षुधा थी और इसके परिणामस्वरूप लोग सेक्स के महत्त्व के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से काम लेते थे जैसा कि संन्यासी हर युग में करते रहे हैं। आज हम जिस युग से गुजर रहे हैं वह कुछ अव्यवस्थित-सा है—जिसमें बहुत-से लोगों ने पुराने मापदण्डों को ठुकरा दिया है, परन्तु वे नये मापदण्ड ग्रहण नहीं कर सके हैं। इसके कारण उन्हें बहुतेरे कष्टों का सामना करना पड़ता है और चूँकि वे अवचेतन में अभी तक पुराने मापदण्डों पर ही विश्वास रखते हैं, इसलिए ये कष्ट उनमें निराशा, ग्लानि और दोषदर्शिता उत्पन्न कर देते हैं। मेरे विचार में जिन लोगों के साथ ऐसा होता है उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है, परन्तु वे हमारे युग के उन लोगों में से हैं जिनकी वाणी सबसे अधिक मुखरित है। मुझे विश्वास है कि यदि हमारे युग और विक्टोरिया-युग के समृद्ध युवकों का औसत निकाला जाए तो प्रेम के सम्बन्ध में आज साठ वर्ष पहले की अपेक्षा लोगों में सुख और प्रेम की मूल्यवत्ता के सम्बन्ध में कहीं अधिक सच्चा विश्वास मिलेगा। जिन कारणों से लोगों में दोष-दर्शिता की प्रवृत्ति आ जाती है उनका सम्बन्ध अचेतन पर पुराने आदर्शों के अत्याचार से है और साथ ही ऐसे तर्क-संगत नैतिक नियमों के अभाव से भी है, जिनकी सहायता से आज

लोग अपने आचरण का नियमन कर सकते हैं। विलाप करने और अतीत के लिए दुःखी होने से इसका निवारण नहीं हो सकेगा। आधुनिक जीवन-दर्शन को अधिक साहस के साथ अंगीकार करने और नाम-मात्र के लिए उत्साहित अंध-विश्वासों को उनके समस्त गुप्त स्थलों से उन्मूलित करने के संकल्प से ही इस दुःस्थिति से मुक्ति मिल सकती है।

संक्षेप में, इसका उत्तर देना कठिन है कि कोई व्यक्ति प्रेम को महत्त्व क्यों देता है? फिर भी मैं बताने का प्रयत्न करूँगा। सबसे पहले प्रेम की यह प्रतिष्ठा स्वीकार करनी चाहिए कि वह अपने-आपमें आह्लाद का एक स्रोत है। यद्यपि यह प्रेम की सबसे महान् प्रतिष्ठा नहीं है फिर भी उसकी अन्य प्रतिष्ठाओं की भाँति यह भी नितान्त आवश्यक है।

ऐ प्रेम! वे लोग तेरे साथ बहुत अन्याय करते हैं
जो तेरी मिठास को कटुता बताते हैं,
जब कि तेरा फल इतना मीठा है
कि उससे अधिक मीठा कुछ और नहीं हो सकता।

जिस अज्ञात कवि ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं वह न तो नास्तिकता का कोई हल ढूँढ़ रहा था और न विश्व को समझने के लिए कोई सूत्र खोज रहा था। वह केवल अपने-आपमें आनन्द ले रहा था। केवल यही नहीं कि प्रेम आह्लाद का एक स्रोत है, उसका अभाव दुःख का कारण भी है। दूसरे प्रेम की प्रतिष्ठा इसलिए करनी चाहिए कि प्रेम सभी प्रकार से सूक्ष्म आनन्द में वृद्धि करता है, जैसे संगीत, पर्वत पर सूर्योदय और पूर्णिमा में समुद्र से मिलने वाले आनन्द में। जिस व्यक्ति ने अपनी प्रेमिका के साथ सुन्दर वस्तुओं का रसास्वादन नहीं किया है उसे इन वस्तुओं की चमत्कारी शक्ति का पूरा अनुभव नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रेम में अहं के कठोर आवरण निकाल फेंकने की शक्ति भी है क्योंकि प्रेम एक ऐसे प्रकार का शारीरिक सहयोग है जिसमें एक-दूसरे के सहजवृत्तिक प्रयोजनों की पूर्णता के लिए दोनों के मनोवेग आवश्यक हैं। संसार में विभिन्न युगों में कई एकान्तवादी दर्शन मिलते हैं। इनमें से कुछ बहुत उदात्त हैं और कुछ

अपेक्षाकृत कम । स्टोइक (जेनो दर्शन के अनुयायियों) और आरम्भ-काल के ईसाइयों का यह विश्वास था कि मनुष्य केवल अपनी इच्छा-शक्ति से या मानवीय सहायता के विना ही परम श्रेयस् की उपलब्धि में सफल हो सकता है । कुछ दार्शनिकों ने शक्ति को जीवन का ध्येय माना है और कुछ ने इसे केवल वैयक्तिक आनन्द कहा है । ये सब इस दृष्टि से एकान्त-वादी दर्शन हैं कि ये श्रेयस् को केवल किसी छोटे या बड़े जन-समूह में नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति में ही प्राप्य मानते हैं । मेरे विचार में ऐसी सब धारणाएँ असत्य हैं, न केवल नैतिक सिद्धान्त की दृष्टि से, वरन् हमारी सहज वृत्तियों के श्रेष्ठांश की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी । मनुष्य सहयोग पर आश्रित है और प्रकृति ने उसके स्वभाव में कुछ ऐसी सहज विशेषताएँ दी हैं जो यद्यपि कुछ-कुछ अपर्याप्त हैं परन्तु जिनसे सहयोग के लिए आवश्यक मैत्री-भाव उत्पन्न हो सकता है । प्रेम पहली और सबसे अधिक सामान्य भावना है जो सहयोग की दिशा में ले जाती है । जिन लोगों को इसकी कुछ तीव्र अनुभूति हुई है वे कभी भी ऐसे दर्शन से संतुष्ट नहीं होंगे जो उनके परम श्रेयस् का उनके प्रेम-पात्र से कोई भी सम्बन्ध स्वीकार न करता हो । इस सम्बन्ध में माता-पिता का स्नेह-भाव और भी अधिक प्रबल है, परन्तु यह अपने सर्वोत्तम रूप में माता और पिता के परस्पर प्रेम का ही परिणाम है । मैं यह नहीं कहता कि प्रेम का सर्वोत्तम रूप बहुत देखने को मिलता है, परन्तु मुझे विश्वास है कि प्रेम अपने सर्वोत्तम रूप में कुछ ऐसे मूल्यों को प्रकट करता है जो अन्यथा छिपे रहते हैं । इसके अतिरिक्त स्वयं प्रेम में एक ऐसी प्रतिष्ठा है, जो संशय से सर्वथा मुक्त है यद्यपि संशयवादी, जो प्रेम करने में असमर्थ हैं, अपनी असामर्थ्य का दोष मिथ्या रूप से अपनी संशयशीलता को दे सकते हैं ।

> सच्चा प्रेम एक चिरस्थायी अग्नि है
> जो मन में सदा ही जलती रहती है,
> यह कभी रुग्ण नहीं होती, कभी नहीं मरती, कभी ठंडी नहीं होती,
> और अपने-आपसे कभी विमुख नहीं होती ।

अब हम देखें कि श्री क्रच त्रासदी—दुःखान्त नाटक—के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। उनका विचार है और मैं उनसे सहमत हूं कि इब्सन का घोस्ट्स किंग लियर (शेक्सपियर का एक नाटक) की तुलना में निम्न कोटि की रचना है। "व्यंजना की शक्ति अधिक भी होती और शब्दों पर अधिक अधिकार होता तो भी इब्सन शेक्सपियर नहीं बन सकता था। वह सामग्री, जिससे शेक्सपियर ने अपने नाटकों की रचना की—उसकी मानव-गरिमा की संकल्पना, उसका मानव-आवेशों के महत्त्व का ज्ञान, मानव-जीवन की विशद व्यापकता के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि—इब्सन और उसके समकालीन साहित्यकारों के लिए उपलब्ध नहीं थी और हो भी नहीं सकती थी। बीच की इन शताब्दियों में ईश्वर, मानव और प्रकृति सब महत्त्वहीन हो चुके थे। इसका कारण यह नहीं था कि आधुनिक कला के यथार्थवादी सिद्धान्त ने हमें अधम जनता पर ध्यान देने को बाध्य किया। इसके मूल में वह प्रक्रिया थी जिसने एक ओर मानव-जीवन की यह अधमता हम पर थोप दी और दूसरी ओर हमारी दृष्टि के औचित्य को सिद्ध करने के लिए कला के यथार्थवादी सिद्धान्त विकसित किये।" यह ठीक है कि पुराने प्रकार के दुःखान्त नाटक, जिनमें राजकुमारों और उनके दुःखों का वर्णन होता था, हमारे युग के लिए उपयुक्त नहीं हैं और यदि किसी अज्ञात व्यक्ति के दुःखों का वर्णन हम उसी रीति से करते हैं तो उनमें वैसा प्रभाव नहीं होता जैसा पुराने नाटक में मिलता था। इसका कारण यह नहीं है कि हमारे जीवन-दर्शन में अधोगति आ गई है। वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। अब हम कुछ व्यक्तियों को संसार के महान् व्यक्ति स्वीकार नहीं करते और यह नहीं समझते कि दुःख की भावनाएं प्रकट करने का अधिकार उन्हीं को है जबकि और सबको उनके वैभव की सृष्टि के लिए अपना खून-पसीना एक करते रहना चाहिये। शेक्सपियर ने लिखा है :

> जब भिखारी मरते हैं तो कोई धूमकेतु दिखाई नहीं देता,
> राजकुमारों की मृत्यु से स्वयं आकाश दहक उठता है।

शेक्सपियर के युग में, यदि इस पर लोगों का पूर्ण विश्वास नहीं भी था तो कम-से-कम इससे एक ऐसी धारणा का पता चलता है जो व्यवहारतः सार्वभौमिक थी और जिसे स्वयं शेक्सपियर ने पूरी निष्ठा से स्वीकार किया था। यही कारण है कि कवि सिना की मृत्यु का चित्रण हास्य-पूर्ण है और सीजर, ब्रूटस तथा कैसियस की मृत्यु में त्रासिक, दुःख का, तत्त्व मिलता है। हम लोग बाहरी रूप से ही नहीं, वरन् आंतरिक विश्वास की दृष्टि से भी लोकतंत्रवादी बन चुके हैं, अतः किसी व्यक्ति की मृत्यु हमारे लिए विश्वव्यापी महत्त्व नहीं रखती। इसलिए आज के प्रभाव-पूर्ण दुःखान्त नाटक—त्रासदी का सम्बन्ध व्यक्ति की अपेक्षा समुदाय से होता ही है। मैं अपना तात्पर्य स्पष्ट करने के लिए एर्न्स्ट टॉलर के नाटक मासेमेंश का उदाहरण दूँगा। मैं यह नहीं कहता कि यह उतनी ही उत्कृष्ट रचना है जितनी अतीत काल की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ, किन्तु मेरे विचार में यह उनकी तुलना में रखी जा सकती है। यह एक उच्च कोटि की रचना है जिसमें गांभीर्य है, वीरोचित व्यापार है और जो अरस्तू के मापदंड के अनुसार 'करुणा और भय के द्वारा पाठक का आत्म-विरेचन' कर सकती है। इस प्रकार के आधुनिक त्रासदी नाटकों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है, क्योंकि पुरानी परम्पराओं और पुराने शिल्प को तिलांजलि देते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उनका स्थान केवल किताबी ज्ञान पर आवृत पिष्ट-पेषित अभिव्यंजना न ले ले। त्रासदी—दुःख की गाथा—लिखने के लिए दुःख की अनुभूति होनी चाहिये। और दुःख की इस अनुभूति के लिए आदमी को उस दुनिया का, जिसमें वह रहता है सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिये—ऐसा ज्ञान जो केवल उसके मस्तिष्क में न हो, बल्कि उसकी नस-नस में व्याप्त हो। श्री क्रच अपनी पुस्तक में रह-रहकर निराशा की चर्चा करते हैं और संसार की आकर्षण-हीनता को वह जिस वीरोचित ढंग से स्वीकार करते हैं वह हमारे मन को छू भी लेती है। परन्तु इस आकर्षण-हीनता का कारण यह है कि उनके और उनके-जैसे अधिकांश साहित्यकारों के मन में अभी तक नये उद्दीपनों के

प्रति पुरानी भावनाएँ जागृत नहीं होतीं। उद्दीपन आज भी मिलते हैं किन्तु साहित्यिक मंडलियों में नहीं। साहित्यिक मंडलियों का समुदाय के जीवन से कोई गहरा सम्पर्क नहीं है। भावों में वह गंभीरता और गहराई लाने के लिए, जिनसे त्रासदी—दुःख की गाथा—और सच्चे सुख, दोनों का उदय होता है इस प्रकार का सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है। जो प्रतिभाशाली युवक यह सोचते रहते हैं कि संसार में उनके करने योग्य कोई काम नहीं है उनसे मैं कहूँगा—"लिखने का प्रयास छोड़ दीजिए और यह प्रयत्न कीजिए कि आप कुछ न लिख सकें। संसार में निकलिये, समुद्री डाकू बन जाइये या बोर्नियो के राजा हो जाइये या सोवियत रूस में श्रमिक बन जाइये। ऐसा जीवन बिताइये जिसमें आपकी सारी शक्ति शरीर की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी रहे।" मेरा यह परामर्श सब लोगों के लिए नहीं है, बल्कि केवल उन लोगों के लिए है जो श्री क्रच के बताये हुए रोग से पीड़ित हैं। मुझे विश्वास है कि कुछ वर्षों तक इस प्रकार का जीवन बिताने के बाद बौद्धिक यह महसूस करेगा कि वह लिखे बिना नहीं रह सकता और तब उसे अपना लिखना व्यर्थ दिखाई न देगा।

तीसरा अध्याय

प्रतियोगिता

यदि आप अमेरिका के किसी व्यक्ति या इंग्लैंड के किसी व्यापारी से पूछें कि जीवन का आनन्द लेने में कौन-सी चीज़ सबसे अधिक बाधक होती है, तो वह कहेगा—जीवन-संघर्ष। उसके इस उत्तर में कुछ भी बनावट नहीं होगी, वह वास्तव में यही महसूस करता है। एक अर्थ में यह सही है परन्तु एक और अर्थ में—जो बहुत महत्त्वपूर्ण है—यह सर्वथा ग़लत है। इसमें संदेह नहीं कि जीवन में संघर्ष करना पड़ता है। यदि हममें से कोई अभागा हो तो उसे इसका सामना करना पड़ सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यासकार कॉनरेड के नायक फ़ॉक को, जो एक लावारिस जहाज़ के दो कार्मिकों में से एक था, इसका सामना करना पड़ा था। इन दोनों के पास बन्दूकें आदि थीं पर खाने को दूसरे आदमियों के अतिरिक्त कुछ न था। जब ये दोनों वह खाना समाप्त कर चुके जिस पर वे सहमत हो सकते थे, तो वास्तविक अर्थ में जीवन-संघर्ष आरम्भ हुआ। फ़ॉक जीत गया परन्तु इसके बाद से उसने मांस खाना छोड़ दिया। जब कोई व्यापारी जीवन-संघर्ष का नाम लेता है तो उसका वह अर्थ नहीं होता जो फ़ॉक के सम्बन्ध में हम बता चुके हैं। यह एक ग़लत शब्द है जिसे उसने एक मामूली-सी बात में गरिमा उत्पन्न करने के विचार से चुन लिया है। आप उससे पूछिये उसने अपने वर्ग के कितने लोगों को भूख से मरते हुए देखा या सुना है। उससे पूछिये कि उसके जो मित्र बरबाद हो चुके हैं उन पर क्या बीती? हर व्यक्ति जानता है कि व्यापारी बरबाद हो जाने पर भी भौतिक सुख-सुविधाओं की दृष्टि से उस व्यक्ति

से अधिक समृद्ध रहता है जो कभी इतना धनी हुआ ही नहीं कि बरबाद होने का अवसर मिल सके। इसलिए वास्तव में जीवन-संघर्ष से लोगों का आशय होता है सफलता के लिए संघर्ष। संघर्ष में व्यस्त होते समय उन्हें यह डर नहीं होता कि उन्हें दूसरे दिन सवेरे के नाश्ते के लाले पड़ जायेंगे बल्कि उन्हें तो यह आशंका होती है कि वे तड़क-भड़क में अपने पड़ोसियों से आगे नहीं निकल सकेंगे।

यह विचित्र बात है कि बहुत थोड़े लोग यह महसूस करते दिखाई देते हैं कि वे किसी ऐसी मशीन में फँसे हुए नहीं हैं जिससे मुक्ति पाने का कोई उपाय न हो, बल्कि वे इस चक्की में इसीलिए घूमते रहते हैं क्योंकि वे नहीं जानते कि यह उन्हें किसी उच्च स्तर पर ले जाने में असमर्थ है। मैं यह बात बड़े व्यापारियों के सम्बन्ध में कह रहा हूँ जिनकी आय बहुत अधिक है। ये लोग चाहें तो जो-कुछ उनके पास है उसी पर जीवन-भर रह सकते हैं। ऐसा करना उन्हें उसी प्रकार लज्जा-जनक प्रतीत होगा जिस प्रकार शत्रु को सिर पर आते देखकर सेना से भाग खड़ा होना। यद्यपि आप उनसे पूछें कि वे अपने काम से किस सार्वजनिक उद्देश्य की सेवा कर रहे हैं तो परिश्रमी जीवन के प्रचारित करने वाले विज्ञापनों में जो नीरस बातें लिखी जाती हैं, उनको बतलाने के अतिरिक्त वे कोई और उत्तर न दे सकेंगे।

आप एक ऐसे व्यक्ति के जीवन के बारे में सोचिये। मान लीजिए कि उसका सुन्दर घर है, सुन्दर पत्नी है और सुन्दर लड़के हैं। वह सवेरे ही उठ जाता है जब कि पत्नी और बच्चे अभी सो रहे हैं और बहुत जल्दी-जल्दी करके दफ्तर पहुँचता है। दफ्तर में एक बड़े प्रबन्धकारी के गुणों का प्रदर्शन करना उसका कर्तव्य है। वह अपने चेहरे पर ऐसा भाव लाता है जिससे लोग उसे सख्त समझें; उसके बोलने का ढंग ऐसा होता है जिससे दृढ़ता टपकती है। वह ऐसे वाक्-संयम का आभास देता है जिससे केवल दफ्तर के छोकरे को छोड़कर सभी लोग प्रभावित हो सकें। वह बोलकर पत्र लिखवाता है, फोन पर अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से

बात करता है, बाजार के भाव-ताव देखता-समझता है और दोपहर का खाना किसी ऐसे व्यक्ति के साथ खाता है जिससे वह किसी सौदे की बात-चीत कर रहा है या जिससे कोई सौदा होने की आशा है। तीसरा पहर भी कुछ इसी प्रकार के कार्य-क्रम में बीत जाता है। वह जब थका हुआ घर पहुँचता है तो हाथ-मुँह धोते और कपड़े बदलते-बदलते रात के भोजन का समय हो जाता है। खाने पर उसे और उसकी तरह कई और थके हुए लोगों को ऐसी महिलाओं के संग प्रसन्नता का दिखावा करना पड़ता है, जो थकने का नाम ही नहीं लेतीं। कब तक बेचारे को इससे मुक्ति मिलेगी, यह बताना कठिन है। खैर, आखिरकार उसे सोने का मौका मिलता है और कुछ घंटों के लिए उसके तनाव में कमी आ जाती है।

काम की दृष्टि से इस व्यक्ति की मनोस्थिति वैसी ही है जैसी सौ गज की दौड़ में भाग लेने वाले किसी व्यक्ति की होती है। परन्तु वह जिस दौड़ में भाग ले रहा है उसका अन्त मृत्यु से पहले नहीं होता, इस-लिए उसकी एकाग्रता—जो सौ गज की दौड़ के लिए तो ठीक है—अन्त में बहुत अधिक हो जाती है। वह अपने बच्चों के बारे में क्या जानता है? सप्ताह के दिनों में वह दफ्तर में रहता है और रविवार गॉल्फ़ के मैदान में बिताता है। वह अपनी पत्नी के सम्बन्ध में क्या जानता है? जब वह सुबह-सवेरे घर से निकलता है तो उसकी पत्नी सोई रहती है। सन्ध्या का समय दोनों सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन मे बिता देते हैं जिसके कारण दोनों में घुल-मिलकर बातचीत भी नहीं हो सकती। कदाचित् उसका कोई मित्र नहीं है, यद्यपि वह कई व्यक्तियों से मिलकर प्रसन्न होने का दिखावा अवश्य करता है। बहार और फ़सल के मौसम के सम्बन्ध में वह केवल यह जानता है कि बाजार पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। विदेशों की उसने शायद यात्रा की है, परन्तु बहुत उकताहट और ऊब के साथ। पुस्तकें उसकी दृष्टि में निरर्थक हैं और सगीत में उसे शास्त्रीयता की प्रधानता दिखाई देती है। प्रतिवर्ष वह अधिक एकाकी-पन अनुभव करता है, उसके ध्यान में अधिक एकाग्रता आ जाती है और

उसका व्यापार-क्षेत्र के वाहर का जीवन अधिक नीरस हो जाता है। मैंने इस प्रकार के अमरीकी व्यक्तियों को अवेड़ उम्र में अपनी पत्नी और लड़कियों के साथ यूरोप में देखा है। वेचारे को उसकी पत्नी और लड़कियों ने समझा-बुझाकर तैयार किया होगा कि वह अब छुट्टी मनाये और अपनी लड़कियों को पुरानी दुनिया (यूरोप) की सैर करने का सुयोग दे। माँ और लड़कियाँ आनन्द-मग्न होकर उसे घेरे रहती हैं और ऐसी प्रत्येक नयी वस्तु की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करती हैं जिसमें उन्हें कोई विशेष वात दिखाई देती है। पिताजी—वहुत थके और ऊबे हुए—सोच रहे हैं कि इस समय उसके दफ़्तर में लोग क्या कर रहे होंगे या वेसवॉल की दुनिया में क्या हो रहा होगा। उसके परिवार की स्त्रियाँ अन्त में थककर उसे उसके हाल पर छोड़ देती हैं और यह समझ लेती हैं कि पुरुष जाति अरसिक होती है। उसके मन में कभी यह वात नहीं आती कि वह उन्हीं के लोभ की तुष्टि करने के प्रयत्नों का शिकार बना हुआ है। वास्तव में यह भी पूर्ण रूप से सही नहीं है। इसमें उतनी ही सत्यता है जितनी कि सती को देखकर किसी यूरोपीय व्यक्ति के मन में होने वाली धारणा में। संभवतः दस विधवाओं में से नौ अपनी इच्छा से पति की चिता के साथ जलकर अपने प्राण दे देती थीं, क्योंकि वे इसे गौरव की बात समझती थीं और चूँकि धर्म की ऐसी आज्ञा थी। व्यापारी का धर्म और शान यही है कि खूब धन पैदा किया जाए, इसलिए हिन्दू विधवा की भाँति वह यह यंत्रणा खुशी से झेलता है। यदि अमरीकी व्यापारी और सुखी रहना चाहता है तो सबसे पहले उसे अपना धर्म-परिवर्तन करना पड़ेगा। जब तक सफलता की इच्छा के साथ-साथ उसकी यह धारणा रहेगी कि सफलता के प्रयत्न करते रहना ही मनुष्य का कर्तव्य है और जो ऐसा नहीं करता वह दया का पात्र है, तब तक उसके जीवन की एकाग्रता और सुख प्राप्त करने की चिन्ता दोनों ही अपनी चरम सीमा पर रहेंगी। पूँजी-निवेश जैसी साधारण समस्या को ही ले लीजिए। लगभग सभी अमरीकी किसी अहानिकर धन्धे में पूँजी लगाकर चार प्रतिशत

लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा किसी जोखिमपूर्ण धंधे से आठ प्रतिशत लाभ प्राप्त करना अधिक पसंद करेंगे। इसके फलस्वरूप अक्सर आर्थिक हानि तथा निरन्तर चिन्ता और परेशानी का सामना करना पड़ता है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं धन से अवकाश और निश्चिन्तता प्राप्त करना चाहूँगा। परन्तु इस युग का व्यक्ति धन से और अधिक धन पैदा करना चाहता है ताकि वह अपने आडम्बर और शान में वृद्धि कर सके और जो लोग अब तक उसके बराबर थे उन्हें पीछे छोड़ सके। अमेरिका में सामाजिक मान अस्थिर है और उसमें निरन्तर घट-बढ़ होती रहती है, अतः यहाँ उन देशों की अपेक्षा, जहाँ समाज-व्यवस्था स्थिर है, महत्ता-प्रदर्शन की भावनाएँ अधिक व्यग्र हो उठती हैं। यद्यपि केवल धन किसी व्यक्ति को शायद महान् न बना सके, किन्तु बिना धन के महान् होना कठिन है। इसके अतिरिक्त, धन ही चतुरता का स्वीकृत मापदंड है। जो व्यक्ति बहुत धन कमाता है वह चतुर है, जो नहीं कमाता वह चतुर नहीं है। कोई भी आदमी यह नहीं चाहता कि लोग उसे मूर्ख समझें। इसलिए जब बाज़ार की स्थिति डांवाडोल होती है तो आदमी की मानसिक दशा ठीक वैसी ही होती है जैसी परीक्षा-काल में छात्रों की।

मेरे विचार में यह मानना पड़ेगा कि व्यापारी को इस बात की कुछ चिन्ता सताती रहती है कि अगर उसका व्यापार चौपट हो गया तो क्या होगा, यद्यपि यह डर नासमझी की वजह से ही होता है। आर्नल्ड बेनेट का एक औपन्यासिक पात्र क्लेहैंगर चाहे जितना धनी होता गया, पर इसके बावजूद सदा ही उसे यह डर सताता रहता था कि कहीं वह कारखाने में ही न मर जाए। इसमें संदेह नहीं कि जिन लोगों को बाल्यावस्था में निर्धनता के कारण बहुत दुःख झेलना पड़ा है उन पर यह भूत हमेशा सवार रहता है कि कहीं उनकी सन्तान को भी ऐसा ही दुःख न झेलना पड़े। वे महसूस करते हैं कि इतना अधिक धन पैदा करना शायद ही सम्भव हो जिससे विपत्ति का दृढ़ता से सामना किया जा सके। पहली पीढ़ी में इस प्रकार का डर कुछ अनिवार्य-सा है, परन्तु जो लोग कभी भी

बहुत निर्धन नहीं रहे हैं उनके लिए ऐसे डर की बहुत कम सम्भावना है। हम जिस समस्या पर विचार कर रहे हैं उसमें ऐसे लोगों का बहुत कम महत्त्व है और उनकी गणना कुछ हद तक अपवाद में होनी चाहिये।

प्रतियोगात्मक सफलता को सुख का मुख्य साधन समझते हुए उसे ज्यादा महत्त्व देना ही मुसीबत की जड़ है। मैं मानता हूँ कि सफलता की अनुभूति से जीवन का आनन्द लेने में कुछ सुविधा होती है। उदाहरण के लिए किसी ऐसे चित्रकार को लीजिए जिसे युवावस्था में कभी ख्याति नहीं मिली। यदि उसकी प्रतिभा को मान्यता मिलने लगे तो उसके सुख में वृद्धि हो जाएगी। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि धन एक विशेष सीमा तक सुख को बढ़ाने में सहायक हो सकता है, किन्तु उस सीमा के आगे वह सुख की वृद्धि में कोई योग नहीं देता। मैं तो यह मानता हूँ कि सफलता सुख का केवल एक अवयव हो सकती है और यदि इसकी प्राप्ति के लिए अन्य सभी अवयवों का बलिदान करना पड़े तो यह बहुत मँहगी पड़ेगी।

इस मुसीबत का स्रोत वह जीवन-दर्शन है जिसे व्यापारी-वर्ग में मान्यता मिली हुई है। यह सच है कि यूरोप में कुछ दूसरे वर्ग भी हैं जो प्रतिष्ठित माने जाते हैं। कुछ देशों में अभिजात वर्ग हैं, सभी देशों में विद्वानों के पेशे हैं और कुछ छोटे देशों को छोड़कर अन्य सभी देशों में जल-थल सेना के पदाधिकारियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आदमी का व्यवसाय चाहे कुछ भी हो, उसकी सफलता में प्रतियोगिता का अंश अवश्य रहता है, किन्तु जो चीज़ सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है वह केवल सफलता नहीं है, बल्कि वह कौशल है, जिसके कारण कोई व्यक्ति सफलता का अधिकारी होता है। कोई वैज्ञानिक बहुत अधिक धन प्राप्त करे या न करे—इससे उसके सम्मान में कोई अन्तर नहीं आता। वह बहुत ज़्यादा धन कमाने लगे तो इससे उसका अधिक सम्मान नहीं होने लगता। किसी प्रसिद्ध जनरल या

(नौसेना के) एडमिरल को निर्धन देखकर किसी को भी आश्चर्य नहीं होता। वास्तव में ऐसी परिस्थितियों में निर्धनता अपने-आपमें सम्मान का विषय बन जाती है। यही कारण है कि यूरोप में निरा आर्थिक प्रतियोगात्मक संघर्ष कुछ विशेष वर्गों में ही सीमित है और शायद ये सबसे अधिक प्रभावशाली और सम्मानित वर्ग नहीं हैं। अमेरिका में स्थिति इसके विपरीत है। राष्ट्रीय जीवन में सेवाएं इतना कम भाग लेती हैं कि उनके मानकों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जहां तक विद्वानों के पेशों का सम्बन्ध है, बाहर का कोई भी व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि किसी चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र का या किसी वकील को विधि-शास्त्र का वास्तव में बहुत ज्ञान है और इसलिए उनके जीवन-स्तर को देखकर उनकी आय का जो अनुमान होता है उसीसे उनकी योग्यता को आंकने में सुविधा होती है। जहां तक प्राध्यापकों का सम्बन्ध है वे व्यापारी वर्ग के किराये के नौकर होते हैं, अतः उन्हें उतना सम्मान नहीं मिलता, जितना पुराने देशों में मिलता है। परिणाम-स्वरूप अमेरिका में व्यवसायों में लगे हुए लोग व्यापारी-वर्ग का अनुकरण करते हैं और यूरोप की तरह उनका अपना अलग वर्ग नहीं होता। इस-लिए अमेरिका में ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो आर्थिक सफलता के संघर्ष की तीव्रता को कम करने में सहायक हो सके।

अमरीकी लड़के बचपन में ही यह समझ लेते हैं कि संसार में केवल आर्थिक सफलता का ही महत्त्व है और वे किसी ऐसी शिक्षा के झमेले में फँसना नहीं चाहते जो आर्थिक दृष्टि से लाभदायक न हो। पहले शिक्षा का अर्थ यह समझा जाता था कि वह मनुष्य में रसास्वादन की योग्यता को विकसित करती है। रसास्वादन से मेरा आशय ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं के रसास्वादन से है जिन तक असंस्कृत व्यक्ति की पहुंच नहीं है। १६वीं शताब्दी में 'भद्र व्यक्ति' की एक पहचान यह भी थी कि वह साहित्य, चित्रकला और संगीत में सूक्ष्म आनन्द ले सकता था। आज हम उसकी रुचि से भले ही सहमत न हों किन्तु और कुछ नहीं तो वह हार्दिक अवश्य

थी। आज का धनिक व्यक्ति उससे सर्वथा भिन्न है। पढ़ने में उसकी कोई रुचि नहीं है। यदि ख्याति के लिए वह कोई चित्र-वीथी बनाना चाहता है तो चित्रों के चयन के लिए वह विशेषज्ञों पर अवलम्बित है। उसे इनसे जो आनन्द मिलता है वह चित्र को देखकर मिलने वाला आनन्द नहीं है। उसका आनन्द यह है कि उसने किसी दूसरे धनी व्यक्ति को इन्हें नहीं लेने दिया। जहाँ तक संगीत का सम्बन्ध है, यदि वह यहूदी है तो वास्तव में उसके गुणों को समझता होगा, अन्यथा संगीत से भी उसी प्रकार अनभिज्ञ होगा जिस प्रकार अन्य कलाओं से। परिणाम-स्वरूप उसकी समझ में कुछ नहीं आता कि अवकाश के समय में वह क्या करे। जैसे-जैसे वह अधिक धनी होता जाता है, वैसे-वैसे धनार्जन उसके लिए और भी आसान हो जाता है, यहाँ तक कि ऐसी स्थिति आ जाती है जब कि दिन में केवल पाँच मिनट व्यय करके ही वह इतना धन पैदा करने लगता है जितना कि वह खर्च भी नहीं कर सकता। इस प्रकार उसकी सफलता उसे ऐसी स्थिति में लाकर छोड़ देती है जिसके आगे उसे कुछ सुझाई नहीं देता। जब तक सफलता को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझा जाता रहेगा, तब तक ऐसी स्थिति से बचना सम्भव नहीं है। जब तक आदमी को यह शिक्षा न मिली हो कि सफलता प्राप्त कर लेने के बाद वह उसका उपयोग किस प्रकार करे, तब तक सफलता की प्राप्ति के बाद ऊब से बचना उनके लिए असम्भव होगा।

प्रतियोगात्मक मनोवृत्ति ऐसे क्षेत्रों पर भी प्रहार करती है जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए पुस्तक पढ़ने के प्रश्न को लीजिए। किसी भी पुस्तक के पढ़ने के दो अभिप्राय हो सकते हैं—आनन्द के लिए या डींग मारने के लिए। अमेरिका में महिलाएँ कुछ विशेष प्रकार की पुस्तकें प्रति मास पढ़ती हैं (या उन्हें पढ़ने का दिखावा करती हैं)। कुछ महिलाएँ पूरी पुस्तक पढ़ती हैं, कुछ पहला अध्याय पढ़कर छोड़ देती हैं और कुछ केवल समीक्षाएँ पढ़ लेती हैं, किन्तु

सबकी मेजों पर आपको ये पुस्तकें दिखाई देंगी। वे उत्कृष्ट रचनाओं का अध्ययन कभी नहीं करतीं। कोई भी मास नहीं होता जब पुस्तक-क्लब ने हेमलेट या किंग लियर को मास की पुस्तक के रूप में चुना हो और प्रकाशित किया हो। किसी महीने में भी (कवि) दांते के बारे में जानने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। परिणामस्वरूप बराबर मामूली दर्जे की पुस्तकें ही पढ़ी जाती हैं, उत्कृष्ट ग्रन्थ कभी भी नहीं पढ़े जाते। यह भी प्रतियोगिता का ही परिणाम है और हम इसे पूरी तरह बुरा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि इन महिलाओं को—जो इस समय उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं पढ़तीं—अपनी पुस्तकें आप चुनने के लिए छोड़ दिया जाये तो वे आज उनके साहित्यिक परामर्शदाताओं द्वारा चुनी हुई जैसी पुस्तकें पढ़ने को मिल रही हैं उनसे भी घटिया पुस्तकें पढ़ने लगेंगी।

आधुनिक जीवन में प्रतियोगिता को जो महत्त्व दिया जाता है उसका सम्बन्ध सांस्कृतिक मानकों के सामान्य ह्रास से है, आॅगस्ट-युग के बाद रोम में भी कुछ इसी प्रकार का ह्रास उत्पन्न हुआ होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुषों और स्त्रियों में बौद्धिक रसास्वादन की सामर्थ्य नहीं रही। उदाहरण के लिए सामान्य वार्तालाप की कला को लीजिए, जो अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के बैठक-घरों में पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी और चालीस वर्ष पहले तक एक जीवित परम्परा थी। यह बहुत ही उत्कृष्ट कला थी, जिसमें क्षणिक आनन्द के लिए उच्चतम मनःशक्तियों का उपयोग होता था। परन्तु हमारे युग में कौन ऐसी चीजों की ओर ध्यान देता है जिनके लिए इतने अवकाश और धीरज की आवश्यकता हो? चीन में यह कला दस वर्ष पहले तक उन्नति की चरम सीमा पर थी, परन्तु मेरा अनुमान है कि राष्ट्रवादियों के अत्यधिक उत्साह ने इसे नष्ट कर डाला होगा। श्रेष्ठ साहित्य का मान—जो पचास या सौ वर्ष पहले तक सभी पढ़े-लिखे लोगों की सामान्य विशेषता थी—अब कुछ प्राध्यापकों तक सीमित है। शान्तिपूर्ण आनन्द के सभी साधनों को अब

त्याग दिया गया है। एक वार वसन्त ऋतु में मुझे कुछ अमरीकी छात्रों के साथ उनके विद्यालय के पास एक जंगल में घूमने का अवसर मिला था। सुन्दर फूल खिले हुए थे, किन्तु मेरे साथ जितने लड़के थे उनमें से कोई भी एक फूल का भी नाम नहीं जानता था। ऐसी बातें जानने का लाभ क्या है? इनसे आय में तो कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

इस मुसीवत की जिम्मेदारी केवल व्यक्ति पर नहीं है और न ही कोई व्यक्ति अकेले ही इससे वच सकता है। मुसीवत का मूल उस जीवन-दर्शन में है जिसके अनुसार जीवन एक प्रतिद्वन्द्व है, एक प्रतियोगिता है— ऐसी प्रतियोगिता जिसमें विजेता ही सम्मान का पात्र है। यह धारणा बुद्धि और इन्द्रियों की उपेक्षा करती है और इच्छा-शक्ति के विकास को अनुचित महत्त्व देती है। या सम्भवतः हमारा यह कहना वैसा ही हो जैसे गाड़ी में वैल को उल्टी ओर जोतना। आधुनिक युग में प्यूरिटन नीतिवादी वरावर इच्छा-शक्ति पर वल देते रहे हैं, यद्यपि आरम्भ में वे आस्था पर जोर देते थे। सम्भव है कि प्यूरिटनवाद के दीर्घ-कालीन प्रभाव ने एक ऐसी जाति को जन्म दिया जिसकी इच्छा-शक्ति तो अति विकसित थी, किन्तु जिसकी वुद्धि और इन्द्रियाँ क्षुधार्त्त थीं और इस जाति ने प्रतियोगिता के दर्शन को स्वीकार कर लिया क्योंकि यह उसके स्वभाव के सवसे अधिक अनुकूल था। आज के ये डाइनोसार—जो अपने प्रागैतिहासिक आदि रूप की भाँति प्रज्ञा की अपेक्षा शक्ति को ज्यादा पसन्द करते हैं—अपनी आश्चर्यजनक सफलता के कारण पूरे संसार में अनुकरणीय वने हुए हैं। वे हर जगह गोरी जाति के लोगों के लिए नमूना वन गए हैं और शायद अगले सौ वर्षों तक यही स्थिति रहेगी। जो लोग इस रंग में रंगे हुए नहीं हैं उन्हें यह सोचकर सन्तोष हो सकता है कि अन्त में डाइनोसारों की विजय नहीं हुई थी। उन्होंने एक-दूसरे को मार डाला था और प्रज्ञावान् दर्शकों को उनका राज्य मिल गया था। आधुनिक डाइनोसार भी अपने-आपको मारे डाल रहे हैं। औसत निकाला जाए तो एक विवाह से उनके दो वच्चे भी नहीं

होते। उन्हें जीवन में इतना आनन्द ही नहीं आता कि सन्तति की इच्छा हो। इस बिन्दु पर पहुँचकर उनका अनुचित रूप से परिश्रमापेक्ष जीवन-दर्शन—जो उन्हें अपने प्यूरिटन पूर्वजों से मिला है—विश्व के अनुकूल प्रतीत होने लगता है। जिस वर्ग के जीवन-दर्शन में इतना सुख देने की भी शक्ति न हो कि सन्तति की इच्छा अनुभव हो सके, वह वर्ग अपने जीवन के दिन पूरे कर चुका है। शीघ्र ही उसका स्थान ऐसे लोग ले लेंगे जिनमें प्रसन्न रहने और रसास्वादन करने की अधिक सामर्थ्य होगी।

यदि प्रतियोगिता को जीवन की प्रमुख वस्तु मान लिया जाए तो वह इतनी भयावह होती है, आदमी को इतना जकड़ लेती है और शारीरिक शक्तियों तथा इच्छा-शक्ति को एक ही बिन्दु पर इस प्रकार केन्द्रित रखती है कि अधिक-से-अधिक एक-दो पीढ़ियों तक ही वह जीवन का आधार बन सकती है। इसके बाद वह स्नायविक थकान पैदा करेगी, पलायन की अनेक अघट-घटनाओं को जन्म देगी और आदमी ऐसे मनोरंजन का सहारा लेने लगेगा जो उसके काम की तरह ही कष्ट-साध्य और तनाव-भरा होगा (क्योंकि आराम करना ही असम्भव हो जाएगा)। अन्ततः सन्तति न हो सकने के कारण पूरा कुल अस्तित्वहीन हो जाएगा। प्रतियोगिता का दर्शन केवल काम को ही नहीं, बल्कि अवकाश को भी विषाक्त कर देता है। ऐसे अवकाश से जो शान्ति-प्रद हो और स्नायुओं के लिए शक्तिदायी हो, आदमी को ऊब होने लगती है। जीवन निरन्तर वेग की अवस्था में रहता है और इसका स्वाभाविक परिणाम है मादक वस्तुओं का इस्तेमाल और शक्ति-लोप। इससे मुक्ति पाने का उपाय यही है कि सन्तुलित जीवनादर्श में स्वस्थ और शान्तिपूर्ण आनन्द के महत्त्व को स्वीकार किया जाए।

चौथा अध्याय

ऊब और उत्तेजना

मेरा विचार है कि मानव-व्यवहार के एक कारक तत्त्व के रूप में ऊब पर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना ध्यान उस पर नहीं दिया गया है। मेरी दृष्टि में यह सभी युगों में एक बहुत बड़ी अभिप्रेरक शक्ति रही है। वर्तमान युग में तो वह अन्य युगों की अपेक्षा और भी बड़ी अभिप्रेरक शक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊब एक विशिष्ट मानव-भाव है। यह ठीक है कि पशु बन्धन की हालत में क्लान्त हो जाते हैं, धीरे-धीरे क़दम उठाकर चलते हैं और जम्हाई लेते हैं, परन्तु प्रकृति या स्वभाव में, मेरे विचार में, ऊब जैसा कोई भाव उनके मन में उत्पन्न नहीं होता। अधिकतर समय तो उनका ध्यान, शत्रु या खाना जुटाने की समस्या अथवा इन दोनों की ओर लगा रहता है। कभी वे संभोग करते दिखाई देते हैं और कभी शरीर को गरम करने की कोशिश करते हुए। परन्तु जब वे दुःखी होते हैं तो भी उन्हें मैं सोचता हूँ ऊब नहीं होती। सम्भवतः मानव-रूपी वानर में हमसे मिलती-जुलती दूसरी विशेषताओं की तरह यह विशेषता भी मिल सकती है, परन्तु उनके साथ कभी न रह सकने के कारण मुझे कभी यह प्रयोग करने का अवसर नहीं मिला। ऊब का एक मुख्य तत्त्व वर्तमान परिस्थितियों और कल्पना पर निर्बाध रूप से छा जाने वाली कुछ दूसरी अधिक मनोनुकूल परिस्थितियों की विषमता में निहित है। ऊब का एक मुख्य तत्त्व यह भी है कि मनुष्य की मन:शक्तियाँ किसी काम में पूर्णतया लगी नहीं होनी चाहिएँ। खून के प्यासे शत्रुओं से जान बचाने के लिए भागना असुखकर कार्य है, परन्तु

निस्सन्देह यह ऐसा कार्य नहीं है जिससे ऊब हो। यदि किसी व्यक्ति को फांसी दी जा रही हो तो जब तक उसमें अतिमानवीय साहस न हो वह ऐसे क्षण में ऊब महसूस नहीं करेगा। इसी प्रकार हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स में डेवनशायर के स्वर्गीय ड्यूक के अतिरिक्त सर्वप्रथम भाषण देते हुए किसी को जम्हाई लेते नहीं देखा गया और ड्यूक को इसके लिए सदस्यों की ओर से बहुत सम्मान मिला। ऊब मूलत: घटनाओं के लिए मन में उठने वाली ऐसी कामना है, जो अतृप्त रहती है। ये घटनाएँ चाहे सुखद भी न हों पर ऐसी जरूर हों जिनमें विमनस्कता-ग्रस्त व्यक्ति के लिए दो दिनों के अन्तर को स्पष्ट कर सकें। संक्षेप में, ऊब की विपरीत अवस्था आनन्द नहीं, वरन् उत्तेजना है।

उत्तेजना की कामना की जड़ें मानव-जाति, विशेपकर पुरुषों में बहुत गहरी हैं। मेरा अनुमान है कि मनुष्य जब शिकारी था तो उसकी यह इच्छा मानव-विकास की परवर्ती अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक आसानी के साथ तृप्त हो जाती थी। शिकार का पीछा करना, युद्ध, प्रेम-प्रदर्शन—ये सभी उत्तेजनापूर्ण कार्य थे। एक वहशी व्यक्ति अपने पति के पास सोई हुई स्त्री के साथ व्यभिचार कर सकता है, यद्यपि वह अच्छी तरह जानता है कि स्त्री का पति जाग गया तो वह उसे अवश्य मार डालेगा। ऐसी स्थिति मेरी दृष्टि में ऊब की स्थिति नहीं है। परन्तु कृषि आरम्भ होने पर जीवन नीरस होने लगा। केवल अभिजात वर्ग का जीवन उसके बाद भी और अभी तक शिकार की अवस्था में है। मशीनों से काम करने से उत्पन्न होने वाली उकताहट की चर्चा तो हम बहुत सुनते हैं परन्तु पुराने तरीक़ों से खेती करने की उकताहट कुछ कम नहीं थी। अधिकांश लोकोपकारी व्यक्ति जो कुछ कहते हैं उसके विपरीत मैं यही कहूँगा कि मशीन-युग ने संसार में ऊब की मात्रा को बहुत घटा दिया है। श्रमिकों को अब दिन में एकान्त में काम नहीं करना पड़ता और संध्या में उन्हें मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। पुराने किस्म के गाँवों में ये बातें असम्भव थीं। इसके अतिरिक्त

निम्न-मध्यम वर्ग के जीवन में हुए परिवर्तन पर विचार कीजिए। पुराने समय में रात के खाने के बाद जब गृहिणी और लड़कियाँ घर का सारा काम कर लेतीं तो परिवार के सब लोग इकट्ठे बैठ जाते। और यही 'सुखद पारिवारिक समय' होता था। इस समय घर का मुखिया बिस्तर पर लेट जाता था, उसकी पत्नी कुछ बुनती रहती थी और लड़कियों का जी चाहता था कि वे मर जाएँ या टिम्बक्टू में पहुँच जाएँ। उन्हें पढ़ने या कमरे से जाने की आज्ञा नहीं थी, क्योंकि उस समय उनके पिता उनसे बातचीत करते थे जिसमें उन्हें अवश्य आनन्द मिलना चाहिए। सौभाग्य से जब उनका विवाह हो जाता तो उन्हें भी अपनी सन्तति को ऐसे ही उदास यौवन का शिकार बनाने का अवसर मिल जाता था। यदि उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त न हो सकता तो एक लम्बे समय तक कुमारी रहने के उपरान्त वे जरा-ग्रस्त भद्र महिलाएँ बन जाती थीं। उनकी दशा उतनी ही भयानक होती थी जितनी कि किसी वहशी जाति के चंगुल में फँसे हुए व्यक्ति की। सौ वर्ष पहले की दुनिया का अन्दाज़ा लगाने के लिए ऊब-उकताहट की इन सब बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यदि आप अतीत में इससे भी आगे जाएँ तो आपको ऊब की और भी प्रधानता मिलेगी। मध्य युग में किसी गाँव में जाड़े के कष्ट की कल्पना कीजिए। लोगों के लिए लिखना-पढ़ना असम्भव था, रात में प्रकाश के लिए केवल मोमबत्ती होती थी और एक कमरा जो बहुत ज्यादा ठण्डा नहीं था, अंगीठी के धुएँ से भर जाता था। सड़कें ऐसी थीं कि उन पर चलना लगभग असम्भव था। इसलिए दूसरे गाँव से शायद ही कोई आदमी आता था। डायनों को ज़िन्दा जला डालने की प्रथा को जन्म देने में—जो जाड़े की रातों में मनोरंजन का एकमात्र साधन थी—दूसरे कारणों के साथ-साथ ऊब भी एक कारण रही होगी।

पूर्वजों की अपेक्षा हमारे जीवन में ऊब का अंश कम है, परन्तु ऊब का डर हम लोगों को अधिक सताता है। हम लोगों को मालूम हो गया

है, या हमने विश्वास कर लिया है कि ऊब मनुष्य के स्वभाव का अंश नहीं है और पर्याप्त शक्ति से उत्तेजना की खोज में लगे रहने से इसका निवारण सम्भव है। आजकल लड़कियाँ अपनी जीविका स्वयं कमाती हैं। बहुत हद तक इसका कारण यह है कि इससे उन्हें संध्या में उत्तेजना के अवसर मिल सकते हैं और अपनी दादी-नानी की भाँति 'सुखद पारिवारिक समय' का कष्ट झेलने से बच जाती हैं। जो व्यक्ति नगर में रह सकता है वह नगर में रहता है। अमेरिका में जो लोग नगर में नहीं रह सकते, उनके पास कार या मोटर-बाइसिकल तो होती ही है जिनसे वे सिनेमा जा सकते हैं। उनके घरों में रेडियो तो होता ही है। पहले की अपेक्षा युवक-युवती एक-दूसरे से अधिक आसानी से मिलते हैं और प्रत्येक गृहिणी सप्ताह में कम-से-कम उतनी उत्तेजना की आशा तो कर ही सकती है जितनी जेन ऑस्टेन की नायिका को पूरे उपन्यास की कालावधि में मिल सकती थी। जैसे-जैसे हमारा सामाजिक स्तर ऊँचा होता जाता है वैसे-वैसे उत्तेजना की खोज की तीव्रता बढ़ती जाती है। जिनके पास साधन हैं, वे सदा ही एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं। वे जहाँ भी जाते हैं मनोरंजन, नृत्य और मद्य उनके संग जाता है। परन्तु किसी-न-किसी कारण से उन्हें बराबर, यही आशा रहती है कि नए स्थान में वे इनका अधिक रसास्वादन कर सकेंगे। जिन लोगों को जीविका के लिए काम करना पड़ता है उन्हें काम के घण्टों में बैठे रहने की मजबूरी के कारण ऊब सहनी ही पड़ती है, परन्तु जो लोग धनी होने के कारण काम करने की आवश्यकता से मुक्त हैं वे ऐसे जीवन को अपना आदर्श मानते हैं जिसमें ऊब का कुछ भी अंश न हो। यह एक ऊँचा आदर्श है और मैं इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कह सकता, परन्तु मुझे डर है कि अन्य आदर्शों की भाँति इसकी प्राप्ति भी उतनी आसान नहीं है जितनी कि आदर्शवादी समझते हैं। गत संध्या के मनोरंजन की तुलना में प्रातःकाल ऊबा देने वाला प्रतीत होगा। मनुष्य अधेड़ होगा, फिर उस पर बुढ़ापा भी आएगा। बीस

वर्ष की अवस्था में लोग सोचते हैं कि तीस वर्ष की उम्र होने पर जीवन समाप्त हो जाएगा। मैं अट्ठावन वर्ष की अवस्था में अब ऐसा नहीं सोचा सकता। सम्भवतः अपने जीवन की पूंजी को नष्ट करना उतनी ही बड़ी मूर्खता है जितनी कि वित्तीय पूंजी को नष्ट करना। शायद थोड़ी-सी ऊब जीवन का एक आवश्यक अंग है। ऊब से बचने की इच्छा स्वाभाविक है। सभी मानव-जातियों ने अवसर आने पर इसका प्रदर्शन किया है। जब वहशी लोगों को गोरी जाति के लोगों से पहली बार शराब मिली तो उन्हें शताब्दियों की पुरानी उकताहट से मुक्ति पाने का मार्ग मिला और जब तक सरकार ने रोक-थाम नहीं की, तब तक वे पीकर खूब हुड़दंग मचाते रहे। युद्ध, नर-संहार और अत्याचार ऊब से पलायन करने के ही परिणाम रहे हैं। लोग कुछ न करने से पड़ोसियों से झगड़ना अच्छा समझते रहे हैं। नैतिकतावादी के लिए ऊब एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है, क्योंकि मानव-जाति कम-से-कम अपने आधे पाप इसी के डर से करती है।

फिर भी ऊब को पूर्णतया अशुभ नहीं समझना चाहिए। ऊब के दो प्रकार होते हैं। इनमें से एक फलदायी होती है और दूसरी निष्फल। फलदायी ऊब तब पैदा होती है जब मादक द्रव्यों के प्रयोग से बचा जाए। निष्फल ऊब जीवनी शक्ति प्रदान करने वाले कार्यकलापों के अभाव से उत्पन्न होती है। मैं यह नहीं कहता कि जीवन में मादक द्रव्यों का कोई महत्त्व ही नहीं है। उदाहरण के लिए, ऐसे क्षण हो सकते हैं जब कोई बुद्धिमान डॉक्टर निद्राकारक औषध खाने का परामर्श देगा और मेरा विचार है कि ऐसे क्षणों की आवृत्ति उससे कहीं अधिक है जितनी कि प्रतिषेध-समर्थक समझते हैं। परन्तु मादक द्रव्यों की लालसा निस्सन्देह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे मानव-स्वभाव की उच्छृङ्खलता पर छोड़ दिया जाए। जिन्हें मादक द्रव्यों की लत पड़ी हुई है उन्हें अपनी यह लत छोड़ने से एक प्रकार की ऊब अवश्य अनुभव होती है। मेरी दृष्टि में इस ऊब का प्रतिकार केवल समय

द्वारा ही सम्भव है। जो बात मादक-द्रव्यों पर लागू होती है वही कुछ सीमित रूप से प्रत्येक प्रकार की उत्तेजना पर भी लागू होती है। अत्यधिक उत्तेजना से भरा जीवन एक क्लान्तिकर जीवन है। इसमें सनसनी पैदा करने के लिए—जिसे आनन्द का एक मुख्य अंग समझ लिया गया है—निरन्तर अधिक-से-अधिक प्रबल उद्दीपनों की आवश्यकता होती है। अत्यधिक उत्तेजना का आदी व्यक्ति उस व्यक्ति के समान है जिसे मिर्च खाने का रोग हो। अन्त में इस व्यक्ति की दशा यह होती है कि मिर्च की जितनी मात्रा से दूसरों का गला रुँध सकता है उसका स्वाद तक उसे नहीं लगता। अत्यधिक उत्तेजना के निवारण में थोड़ी ऊब अवश्य है जिससे नहीं बचा जा सकता। अत्यधिक उत्तेजना केवल स्वास्थ्य के लिए ही हानिकर नहीं होती। वह प्रत्येक प्रकार की खुशी के लिए इन्द्रियों को कुण्ठित भी कर देती है और गहरी आंगिक तृप्ति के स्थान पर गुदगुदी, बुद्धिमत्ता के स्थान पर चतुरता और सौन्दर्य के स्थान पर आश्चर्य उत्पन्न करती है। मैं उत्तेजना का बहुत अधिक विरोध नहीं करना चाहता। एक विशेष सीमा तक तो यह हितकर है, परन्तु दूसरी सब वस्तुओं की तरह यहाँ भी प्रश्न मात्रा का है। अत्यल्प मात्रा लालसा का कारण बन सकती है और अत्यधिक मात्रा क्लान्ति उत्पन्न करेगी। इसलिए ऊब को सहने की कुछ शक्ति सुखी जीवन की एक मूल आवश्यकता है और युवकों को इसकी भी शिक्षा मिलनी ही चाहिये।

सभी उत्कृष्ट ग्रन्थों में उकता देने वाले खण्ड होते हैं और सभी महापुरुषों के जीवन में नीरस अंश मिलते हैं। मान लीजिए कि इस युग के किसी अमरीकी प्रकाशक के पास ओल्ड टेस्टामेंट की पांडुलिपि ऐसी नवीन रचना के रूप में विचारार्थ आई है जो उसे पहली बार प्रकाशनार्थ मिली है। तो उदाहरण के लिए, वंश-वृक्ष के सम्बन्ध में उसका मत क्या होगा, इसका अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं है। वह कहेगा—"श्रीमान्, इस अध्याय में कोई जान नहीं है। आप किस प्रकार यह आशा करते हैं कि पाठक उन व्यक्तियों की नामावली में रुचि लेंगे जिनका

परिचय आपने इतने संक्षेप में दिया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि आपने कहानी का आरम्भ बहुत सुन्दर शैली में किया है और पहले मैं बहुत प्रभावित भी हुआ, परन्तु आप सब-कुछ बहुत विस्तार के साथ कहना चाहते हैं। मुख्य बातें चुन लीजिए, अनावश्यक बातों को निकाल दीजिए और जब आप इसे उचित रूप से संक्षिप्त कर लें तो पाण्डुलिपि मेरे पास लाइये।" आधुनिक प्रकाशक यही कहेगा, क्योंकि वह जानता है कि आज के पाठक ऊब से कितना डरते हैं। कनफ्यूशस के श्रेण्य ग्रन्थों, क़ुरान, मार्क्स के कैपिटल और अन्य सभी पावन-ग्रंथों के सम्बन्ध में—जो सबसे अधिक बिकते हैं—यह वही कहेगा। यह बात केवल पावन-ग्रंथों के लिए ही सही नहीं है, सभी उत्कृष्ट उपन्यासों में उकता देने वाले अंश मिलते हैं। जो उपन्यास पहले पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ तक बराबर मजेदार बना रहता है, वह निश्चय ही कोई महान् कृति नहीं है। महापुरुषों के जीवन में भी कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणों को छोड़कर उत्तेजना का अंश नहीं मिलता। सुकरात कभी-कभी भोज का आनन्द ले सकता था और पिलाये गए विष के प्याले का प्रभाव होते समय उसे अपने वार्तालाप से बहुत तुष्टि मिली होगी, परन्तु उसने अपना अधिकांश जीवन जांथिप्पे के साथ रहकर शाम को टहलते हुए और शायद कुछ मित्रों से मिलते हुए बहुत शान्ति-पूर्वक बिताया। कांट के बारे में कहा जाता है कि वह अपने पूरे जीवन में कभी भी कोनिग्ज़बर्ग नगर से दस मील से अधिक दूर नहीं गया। डार्विन ने विश्व-भ्रमण करने के उपरान्त शेष जीवन अपने घर में ही बिताया। मार्क्स ने भी कुछ क्रान्तियां करने के बाद अपना सारा जीवन ब्रिटिश संग्रहालय में बिताया। आप देखेंगे कि शान्तिपूर्ण जीवन सभी महान् व्यक्तियों की विशेषता रही है और उनकी खुशियाँ ऐसी नहीं रही हैं जिनमें बाहरी रूप में उत्तेजना का अंश दिखाई दे। किसी भी प्रकार की महान् उपलब्धि तभी सम्भव है जब कि उसके लिए निरन्तर काम किया जाये। यह काम इतना कठिन होता है और इसमें इतना लीन हो जाना पड़ता है कि अधिक श्रम-साध्य मनोरंजन के लिए बहुत थोड़

शक्ति बची रहती है। इसमें छुट्टी के दिनों में मनोरंजन के ऐसे साधनों का भी उपयोग किया जा सकता है जिससे खोई हुई शारीरिक शक्ति फिर प्राप्त हो सके। किसी पहाड़ी पर चढ़ना इस प्रकार के मनोरंजन का सबसे अच्छा उदाहरण है।

एक-रस जीवन को सहन करने की शक्ति बाल्यावस्था में ही प्राप्त करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में सारा दोष आधुनिक माता-पिता का है। वे अपने बच्चों के लिए निष्क्रिय मनोरंजन के बहुत-से साधन उपलब्ध कर देते हैं, जैसे तमाशा, मिठाइयाँ इत्यादि। कुछ विरल अवसरों को छोड़कर बालक का एक दिन दूसरे दिन से भिन्न न हो, इसका महत्त्व वे नहीं समझते। बचपन की खुशी मुख्य रूप से ऐसी होनी चाहिये जिसे बालक अपने परिवेश से ही कुछ प्रयास और खोज के द्वारा प्राप्त कर ले। ऐसी खुशी जो उत्तेजक हो और साथ ही जिसमें शारीरिक श्रम का कोई अंश न हो—जैसे थिएटर देखने की खुशी—बालक को कभी-कभी ही मिलनी चाहिये। उत्तेजना मादक द्रव्य के समान है जिसकी आवश्यकता बढ़ती ही जाती है। उत्तेजना की अवस्था में जो शारीरिक निष्क्रियता उत्पन्न होती है वह सहज वृत्ति के विरुद्ध है। बालक का सर्वोत्तम विकास तभी सम्भव है जबकि उसे किसी पौधे की भाँति बिना छेड़-छाड़ किए एक ही जमीन में रहने दिया जाए। बहुत अधिक यात्रा, प्रभावों की बहुत विविधता बालक के लिए ठीक नहीं है। इनके कारण वह जैसे-जैसे बड़ा होता है वैसे-वैसे फलदायी एक-रस जीवन को सहन करने में असमर्थ होता जाता है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि एक-रस जीवन अपने-आप में ही महत्त्वपूर्ण है। मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि बहुत-सी अच्छी बातें तब तक सम्भव नहीं हैं जब तक कि विशेष अंश तक एक-रसता का अस्तित्व न हो। उदाहरण के लिए वर्ड्सवर्थ की रचना प्रेल्यूड को लीजिए। प्रत्येक पाठक अनुभव करेगा कि वर्ड्सवर्थ के विचारों और अनुभूतियों में जिन चीजों का मूल्य था वे कृत्रिम स्वभाव के किसी शहरी युवक में नहीं मिल सकतीं। किसी लड़के या युवक का कोई

गम्भीर रचनात्मक उद्देश्य हो तो वह ऐसी बहुत उकताहट खुशी के साथ सह लेगा जो उद्देश्य-पूर्ति के मार्ग में आवश्यक लगेगी। परन्तु जो लड़का अस्थिरता और उच्छृङ्खलता का जीवन विताता हो उसके मन में रचनात्मक उद्देश्य आसानी के साथ जड़ नहीं पकड़ते, क्योंकि उसका ध्यान सदा ही दूरस्थ सफलता की अपेक्षा निकटवर्ती आनन्द पर केन्द्रित रहता है। इसलिए जो पीढ़ी ऊब को सहन नहीं कर सकती वह तुच्छ व्यक्तियों की पीढ़ी होगी—ऐसे व्यक्तियों की पीढ़ी जिनका प्रकृति की मन्द गति से चलने वाली प्रक्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिनमें जीवनी-शक्ति प्रदान करने वाला प्रत्येक आवेग धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है—जैसे वे फूलदान में तोड़कर सजाये गए फूल हों।

मुझे रहस्यमय भाषा पसन्द नहीं है, फिर भी मैं अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए ऐसी अभिव्यंजना का सहारा लिये बिना नहीं रह सकता जो वैज्ञानिक से अधिक काव्यात्मक प्रतीत होती है। हम लोग चाहे जो भी सोचें, हम धरती की सन्तान हैं। हमारा जीवन धरती के जीवन का एक अंश है और पौधों तथा पशुओं की भाँति हमारा पोषण भी इसी से होता है। धरती के जीवन की लय मन्द होती है। पतझड़ और जाड़े के मौसम उसके लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कि वसन्त और गरमी के मौसम। उसके लिए विश्राम उतना ही आवश्यक है जितनी कि गति। बालक के लिए तो मनुष्य से भी अधिक आवश्यक है कि धरती के जीवन के उतार-चढ़ाव से उसका कुछ सम्पर्क बना रहे। मानव-शरीर युगों से इस लय में ढला हुआ है और धर्म ने ईस्टर के उत्सव में इसे कुछ हद तक साकार कर दिया है। मैंने दो साल के एक ऐसे बच्चे को देखा जो बराबर लन्दन में रहा था और पहली बार एक गाँव में—जहाँ हरियाली छाई हुई थी—ले जाया गया था। जाड़े का मौसम था और हर चीज भीगी हुई और कीचड़ में लथपथ थी। वहाँ कोई भी ऐसी चीज नहीं थी जिससे किसी वयस्क को आनन्द प्राप्त हो सकता। परन्तु बच्चे को एक विचित्र आनन्द ने अभिभूत कर लिया।

वह भीगी जमीन पर घुटनों के बल बैठ गया, उसने अपना चेहरा घास पर रख दिया और आह्लाद से भरी हुई अस्पष्ट ध्वनि उसके मुँह से निकल पड़ी। वह एक आदिम, सरल और विशाल आनन्द का अनुभव कर रहा था। उसकी जिस आंगिक आवश्यकता की पूर्ति हो रही थी वह बहुत गहरी है और जिन लोगों की यह आवश्यकता पूरी नहीं होती उन्हें शायद ही पूर्ण रूप से अनुन्मत्त माना जा सके। बहुत-सी खुशियाँ—जैसे जुआ—धरती के इस सम्पर्क से सर्वथा रहित होती हैं। इस प्रकार की खुशी जब समाप्त हो जाती है तो व्यक्ति नीरसता और अतृप्ति अनुभव करने लगता है और वह किसी अज्ञात वस्तु के लिए लालायित हो उठता है। ऐसी खुशियों में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती जिसे आनन्द कहा जा सके। इनके विपरीत जो खुशियाँ हमें धरती के जीवन के निकट लाती हैं उनमें गहरी तोषण-शक्ति होती है। यद्यपि ऐसी खुशियो में शायद उतनी तीव्रता न हो जितनी कि अधिक उत्तेजक भोग-विलास में, परन्तु ये खुशियाँ जब समाप्त हो जाती हैं तो उसके बाद भी उनका प्रदान किया हुआ सुख अक्षुण्ण रहता है। मैं जिस अन्तर के बारे में सोच रहा हूँ वह साधारण-से-साधारण कार्य से लेकर सभ्यतम कार्यों तक में मिलता है। मैंने ऊपर जिस दो-वर्षीय शिशु का उल्लेख किया है वह धरती के जीवन से तादात्म होने के सबसे आदिम रूप का प्रदर्शन कर रहा था। यही चीज काव्य में एक उन्नत रूप में प्रकट होती है। शेक्सपीयर के प्रगीत श्रेष्ठ इसीलिए हैं क्योंकि उनमें उसी आनन्द की अभिव्यक्ति हुई है जिससे अभिभूत होकर शिशु घास से लिपट गया था। "हार्क, हार्क, द लार्क" या "कम अंटू दीज़ यलो सैंड्स" पर विचार कीजिए। आप देखेंगे कि इन कविताओं में उसी भावना की परिष्कृत अभिव्यक्ति हुई है जो दो वर्ष के शिशु में अस्पष्ट ध्वनियों के रूप में प्रकट हो सकती थी। या फिर प्रेम तथा मात्र यौना-कर्षण के अन्तर के सम्बन्ध में विचार कीजिए। पेम एक ऐसी अनुभूति है जो हमारे पूरे अस्तित्व को उसी प्रकार नवीनता और ताजगी प्रदान करती

है जिस प्रकार सूखे के उपरान्त वर्षा पौधों को। प्रेम-रहित सम्भोग में यह विशेषता नहीं होती। जब यह क्षणिक प्रसन्नता समाप्त हो जाती है तो केवल थकान, उकताहट और जीवन के शून्य होने की अनुभूति शेष रह जाती है। प्रेम धरती के जीवन का एक अंश है, प्रेम-रहित यौनाकांक्षा धरती के जीवन का अंश नहीं है।

आधुनिक नगरों के लोग विशेष प्रकार की जिस उकताहट से पीड़ित हैं, उसका बहुत गहरा सम्बन्ध इस बात से है कि वे धरती के जीवन से विविक्त हो चुके हैं। इसने उनके जीवन को मरुभूमि की यात्रा की भाँति नीरस और तृषित कर दिया है। जो लोग बहुत धनी हैं और जिस प्रकार चाहे रह सकते हैं, उनकी विशेष प्रकार की असह्य उकताहट के मूल में ऊब का भय है। यद्यपि मेरे इस कथन में अंतर्विरोध का आभास-सा मिलेगा, परन्तु वास्तव में स्थिति यही है। फलदायी ऊब से भागकर वे दूसरी और इससे बहुत खराब उकताहट का शिकार बन जाते हैं। सुखी जीवन के लिए शान्तिपूर्ण जीवन बिताना अत्यधिक आवश्यक है, क्योंकि शान्ति के वातावरण में ही सच्चा आनन्द सम्भव है।

पांचवां अध्याय

थकान

थकान अनेक प्रकार की होती है। इनमें से कुछ सुख के मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर बाधाएं उत्पन्न करती हैं। केवल शरीरिक थकान—यदि वह अत्यधिक न हो—तो सुख का ही कारण होती है। इससे गहरी नींद आती है और खुलकर भूख लगती है। छुट्टी के दिनों में जो आमोद संभव है उसमें इसके कारण रस आ जाता है। परन्तु अत्यधिक शारीरिक थकान बहुत हानिकर होती है। बहुत उन्नत देशों को छोड़कर सभी देशों की किसान स्त्रियां अत्यधिक परिश्रम के कारण तीस वर्ष की अवस्था में ही बूढ़ी हो जाती हैं। औद्योगिक विकास के प्रारंभ-काल में अत्यधिक परिश्रम के कारण लड़कों का विकास कुंठित हो जाता था और अक्सर बहुत छोटी उम्र में ही वे दुनिया से चल बसते थे। चीन और जापान में जहाँ उद्योगों का प्रचलन हाल में हुआ है आज भी यही स्थिति है। अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में भी कुछ हद तक यही स्थिति है। शारीरिक श्रम जब एक विशेष सीमा का उल्लंघन कर लेता है तो वह घोर अत्याचार बन जाता है। अक्सर शारीरिक श्रम की अधिकता ने जीवन को सर्वथा असह्य नहीं तो अत्यधिक कष्टदायी अवश्य बना दिया है। आज संसार के बहुत अधिक उन्नत देशों में औद्योगिक परिस्थितियों में सुधार हो जाने के कारण शारीरिक थकान में बहुत कमी हो चुकी है। वर्तमान युग में ऊँचे वर्गों के लिए जो थकान सबसे अधिक सख्त है वह है स्नायविक थकान। यह विचित्र बात है कि समृद्ध वर्गों में यह थकान सबसे अधिक दिखाई देती है और व्यापारियों तथा मानसिक कार्य करने वाले व्यक्तियों

की अपेक्षा मजदूरों में यह बहुत कम मिलती है।

आधुनिक जीवन में स्नायविक थकान से बचना बहुत कठिन है। इसका एक कारण तो यह है कि शहर में काम करने वाला व्यक्ति काम करते समय और घर से दफ़्तर या दफ़्तर से घर जाते हुए सदा ही कोलाहल के बीच में रहता है। यह ठीक है कि वह अधिकतर कोलाहल को सचेतन रूप से न सुनने का अभ्यास कर लेता है, परन्तु फिर भी यह कोलाहल उसे थका डालता है। अपने अवचेतन में कोलाहल को न सुनने का प्रयास करने के कारण यह थकान और भी अधिक हो जाती है। एक और चीज़, जो अज्ञात रूप से हमें थका डालती है, वह है अपरिचित व्यक्तियों की उपस्थिति। अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य के स्वभाव की भी यह मूल वृत्ति है कि वह प्रत्येक अपरिचित व्यक्ति की छान-बीन करता है और यह निर्णय करता है कि उसे उसके साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिये या शत्रुता का। जो लोग भीड़ के समय ज़मीन के नीचे चलने वाली रेल में यात्रा करते हैं उन्हें इस सहज वृत्ति का निरोध करना पड़ता है और इसका परिणाम यह होता है कि सभी अपरिचित व्यक्तियों के प्रति—जिनके सम्पर्क में उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध आना पड़ता है—उनके मन में झुँझलाहट-भरा रोष उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त सुबह की गाड़ी पकड़ने की भी जल्दी रहती है, जिसके परिणामस्वरूप बदहज़मी का रोग हो जाता है। अतः जब दफ़्तर का कर्मचारी दफ़्तर में पहुँचता है और दिन का काम आरम्भ होता है तो उस समय तक उसके स्नायु थक चुके होते हैं और वह पूरी मानव जाति को ही मुसीबत की जड़ समझ बैठता है। उसका नियोजक भी इसी मनोदशा में दफ़्तर पहुँचता है और वह कर्मचारी की इस विक्षिप्त मनःस्थिति को दूर करने में कुछ भी सहायक नहीं होता। नौकरी से हटा दिये जाने के डर से कर्मचारी को सम्मानपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है, परन्तु उसके इस अस्वाभाविक आचरण से उसके स्नायविक तनाव में केवल वृद्धि ही होती है। यदि सप्ताह में एक बार कर्मचारी अपने नियोजक का अपमान कर सकते या उसके बारे में

अपने विचारों को उसके सामने व्यक्त कर सकते, तो उनका स्नायविक तनाव दूर हो सकता था, परन्तु इससे नियोजक की स्थिति में—जो स्वयं कष्ट में है—कोई सुधार नहीं हो सकता। जिस प्रकार कर्मचारी को बरखास्त कर दिए जाने का डर है, उसी प्रकार नियोजक को भी दिवालिया हो जाने का डर है। यह ठीक है कि कुछ लोग इतने बड़े हैं कि उन्हें यह डर नहीं है, परन्तु इतनी ऊँची जगह पर पहुँचने के लिए उन्हें वर्षों तक कष्ट-साध्य संघर्ष का जीवन बिताना पड़ा है। इस अवधि में उन्हें विश्व के सभी देशों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सक्रिय जानकारी प्राप्त करनी पड़ी है और अपने प्रतियोगियों की चालों को मात देनी पड़ी है। इसका परिणाम यह होता है कि स्थायी सफलता प्राप्त करने तक व्यक्ति की स्नायविक शक्ति पूर्णतया नष्ट हो जाती है और उसे चिन्ता करने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि चिन्ता की आवश्यकता न रहने की स्थिति में भी उसे अपनी इस आदत से छुटकारा नहीं मिलता। यह सच है कि धनी आदमियों के पुत्र भी हैं, परन्तु वे सामान्य रूप से अपने लिए लगभग वैसी ही चिन्ताएँ पैदा कर लेते हैं जैसी कि धनी परिवार में उत्पन्न न होने की स्थिति में उन्हें घेरे रख सकती थीं। बाजी और जुए की लत के कारण उनके पिता उनसे नाखुश रहते हैं। रात गये तक मनोरंजन करते रहने और बहुत कम सोने के कारण उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और जब उनका व्यवस्थित जीवन आरम्भ होता है तो अपने पिता की भाँति उनमें भी सुख के रसास्वादन की सामर्थ्य नहीं रहती। आधुनिक ढंग से रहने वाले अधिकतर लोग ऐच्छिक या अनैच्छिक रूप से स्नायविक तनाव से भरा जीवन बिताते हैं और वे सदा ही इतने थके रहते हैं कि शराब की सहायता के बिना किसी भी प्रकार के रसास्वादन की सामर्थ्य उनमें नहीं होती।

धनिक वर्ग के जो लोग केवल मूर्ख हैं उन पर ध्यान न देते हुए हम ऐसे सामान्य व्यक्ति की स्थिति पर विचार करें जिसकी थकान का सम्बन्ध जीविकोपार्जन के कष्ट-साध्य कार्य से है। ऐसे व्यक्ति की थकान का कारण

वहुत हद तक चिन्ता है और इस चिन्ता का निवारण एक अधिक अच्छे जीवन-दर्शन और कुछ अधिक मानसिक अनुशासन के द्वारा सम्भव है। अधिकांश पुरुषों और स्त्रियों में अपने विचारों पर संयम रखने की सामर्थ्य नहीं होती। मेरा तात्पर्य यह है कि वे चिन्ता-जनक विषयों के सम्बन्ध में उस समय भी सोचना वन्द नहीं करते जव उनके वारे में कुछ भी करना सम्भव नहीं होता। लोग अपनी व्यापार-सम्वन्धी चिन्ताओं को सोने जाते समय भी नहीं भूल पाते हैं और रात में जव कि दूसरे दिन के कष्टों का सामना करने के लिए उन्हें नई शक्ति प्राप्त करनी चाहिए, वे मन में वार-वार ऐसी समस्याओं पर सोचते रहते हैं, जिनके सम्वन्ध में वे उस समय कुछ भी नहीं कर सकते। वे इन समस्याओं पर इस ढंग से नहीं सोचते कि कल के लिए कोई उपयुक्त उपाय ढूँढ़ निकाला जाए, वल्कि वे इनके वारे में उस अर्द्धविक्षिप्त ढंग से सोचते रहते हैं जो अनिद्रा की विशृंखल चिन्ताओं की विशेषता है। सुवह होने पर भी रात की विक्षिप्तता उन्हें घेरे रहती है, जिसके कारण उनकी निर्णय-शक्ति मन्द पड़ जाती है, उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन पैदा हो जाता है और प्रत्येक वाधा से वे झुँझला उठते हैं। वुद्धिमान व्यक्ति अपने कष्ट के वारे में केवल उसी समय सोचता है जव ऐसा करना उपयोगी दिखाई दे; अन्यथा वह दूसरी बातों के वारे में सोचता है या यदि रात हो तो वह किसी भी चीज़ के वारे में नहीं सोचता। मेरा आशय यह नहीं है कि आदमी उस समय भी ऐसा कर सकता है जव वरवादी वहुत निकट आ चुकी हो या उसके पास यह सन्देह करने के उचित कारण हों कि उसकी पत्नी उसे धोखा दे रही है। ऐसे लोगों की संख्या वहुत कम है जिन्हें अपने मन पर इतना असाधारण संयम हो कि वे ऐसा कर सकें। परन्तु दैनिक जीवन के साधारण कष्टों की चिन्ताओं को उस समय के लिए उठा रखना सम्भव है जव वास्तव में आप उनसे निपट सकते हों। सुव्यवस्थित मन जो किसी विषय पर हर समय अपर्याप्त रूप से सोचते रहने की अपेक्षा उचित समय पर खूव अच्छी तरह विचार करता है, सुख और कार्यकुशलता की वृद्धि में वहुत सहायक हो सकता है। जव

कोई कठिन या चिन्तापूर्ण निर्णय करना आवश्यक हो तो जैसे ही सब बातों की जानकारी प्राप्त हो जाए खूब अच्छी तरह विचार कर लेने के उपरान्त कोई निर्णय कर लीजिए। जब तक कि कोई नयी बात मालूम न हो, तब तक इस निर्णय में कोई संशोधन न कीजिए। अनिश्चय से ज्यादा थका देने वाली कोई वस्तु नहीं होती और कोई भी चीज़ इससे अधिक व्यर्थ नहीं है।

जो विषय चिन्ता का कारण बना हुआ है उसकी महत्त्वहीनता को समझ लिया जाए तो बहुत-सी चिन्ताएँ कम हो सकती हैं। एक समय था जब मैं सार्वजनिक सभाओं में बहुत भाषण दिया करता था। आरम्भ में मैं श्रोताओं को देखकर भयभीत हो जाता था और घबराहट के कारण मैं बहुत बुरा भाषण देता था। मैं इस परीक्षा से बहुत डरता था और मैं बराबर यही सोचता था कि भाषण देने से पहले मेरे पाँव लड़खड़ा जायेंगे। भाषण देने के उपरान्त स्नायविक तनाव के कारण मैं बहुत थक जाता था। धीरे-धीरे मैंने अपने-आपको समझाया कि मेरा भाषण अच्छा हो या बुरा, उससे विश्व में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आएगा। मैं अच्छा बोलता हूँ या बुरा, इसपर मैं जितना कम ध्यान देता उतना ही अधिक अच्छा भाषण मैं देता और धीरे-धीरे मेरे स्नायविक तनाव में कमी होती गई, यहाँ तक कि वह लगभग दूर हो गया। स्नायविक थकान से हम बहुत हद तक इस प्रकार निपट सकते हैं। हम जो कुछ करते हैं उसका महत्त्व उतना नहीं होता जितना कि हम स्वभावतः समझते हैं। हमारी सफलताओं या विफलताओं का वास्तव में बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। बड़े-से-बड़े दुःख को सहन करना भी सम्भव है। ऐसी घोर विपत्तियाँ भी समय के साथ अपना प्रभाव खो बैठती हैं जिनके बारे में हम समझते हैं कि उन्होंने सदा के लिए हमारे जीवन का सुख छीन लिया है—यहाँ तक कि उनकी तीव्रता का स्मरण करना भी सम्भव नहीं होता। परन्तु इन आत्म-केन्द्रित विचारों से भी अधिक महत्त्व इस बात का है कि किसी व्यक्ति का अहं संसार का मुख्य अंश नहीं है। जिस व्यक्ति में अपने विचारों को केन्द्रित

करने और अहं से ऊपर उठकर किसी चीज़ की आशा करने की सामर्थ्य है उसे जीवन के साधारण कष्टों के बीच कुछ शान्ति मिल सकती है। शुद्ध अहंवादी के लिए इस प्रकार की शान्ति असम्भव है।

एक विशेष पक्ष का—जिसे हम स्नायविक आरोग्य कह सकते हैं—अभी बहुत थोड़ा अध्ययन किया गया है। यह ठीक है कि औद्योगिक मनोविज्ञान ने थकान की छान-बीन विस्तारपूर्वक की है और सावधानी से एकत्र किये गए आँकड़ों की सहायता से यह सिद्ध कर दिया है कि बहुत दिनों तक एक ही काम करते रहने से आदमी थक जाता है। परन्तु यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसका अनुमान विज्ञान के आडम्बर के बिना भी लगाया जा सकता था। थकान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन मुख्य रूप से मांसपेशीय थकान से सम्बन्धित है। यद्यपि स्कूल के बच्चों की थकान के विषय में भी कुछ अध्ययन किया गया है, परन्तु किसी में भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या पर ध्यान नहीं दिया गया। आधुनिक जीवन में जिस थकान का बहुत महत्त्व है वह भावात्मक थकान है। मानसिक थकान मांसपेशीय थकान की भाँति नींद से दूर हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति कोई ऐसा मानसिक कार्य करता हो—जिससे भावना का कोई सरोकार ही न हो, जैसे संगणना का कार्य—तो रात में जी भरकर सो लेने से उसकी दिन की थकान मिट जायेगी। जिस हानि को अत्यधिक कार्य का परिणाम बताया जाता है वह वास्तव में किसी परेशानी या चिन्ता का परिणाम होती है। भावात्मक थकान में यह खराबी है कि वह विश्राम में बाधक होती है। आदमी जितना अधिक थकता है उतना ही अधिक थकान को रोकना उसके लिए असम्भव हो जाता है। किसी व्यक्ति को स्नायु-भ्रंश का रोग होने ही वाला हो तो उसका एक लक्षण यह भी है कि वह अपने काम को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझने लगता है और सोचता है कि उसने छुट्टी ली तो बहुत बड़ा संकट आ जायेगा। यदि मैं डॉक्टर होता तो ऐसे प्रत्येक रोगी को, जो अपने काम को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हो, छुट्टी लेने का परामर्श देता। मैंने स्नायु-भ्रंश के जितने रोगियों को देखा

है उनमें से प्रत्येक को यह रोग काम के कारण नहीं हुआ था, बल्कि किसी भावात्मक चिन्ता से हुआ था, जिससे बचने के लिए वह काम में शरण ढूंढता था। वह काम नहीं छोड़ना चाहता, क्योंकि उसने ऐसा किया तो उसके दुर्भाग्य की ओर से उसके ध्यान को हटाने के लिए कोई वस्तु नहीं रहेगी। दिवालिया हो जाने का भय किसी व्यक्ति की चिन्ता का कारण हो सकता है और ऐसी स्थिति में उसके काम का उसकी चिन्ता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, परन्तु उसकी चिन्ता उसे इतना अधिक काम करने पर बाध्य कर सकती है कि उसकी निर्णय-शक्ति कुण्ठित हो जाए और इस प्रकार वह और पहले ही दिवालिया हो जाए। सदा ही स्नायु-भ्रंश का रोग बहुत अधिक काम करने के कारण नहीं, बल्कि किसी भावात्मक चिन्ता के कारण होता है।

चिन्ता का मनोविज्ञान किसी भी प्रकार सरल नहीं है। मानसिक अनुशासन अर्थात् उपयुक्त समय पर चीज़ों के सम्बन्ध में सोचने की आदत की चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। कई दृष्टियों से इसका बहुत महत्त्व है। एक तो यह कि इससे दैनिक कार्य में कम सोच-विचार की आवश्यकता होती है, दूसरे यह कि इससे अनिद्रा का प्रतिकार हो सकता है और तीसरे यह कि इससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है और आदमी अधिक समझ-दारी के साथ फ़ैसला कर सकता है। परन्तु इस प्रकार के तरीके अवचेतन या अचेतन को नहीं छूते और यदि चिन्ता गम्भीर हो तो कोई भी तरीका तब तक कारगर नहीं हो सकता जब तक कि वह चेतना की सतह को छेदता हुआ गहराई में न पहुँच जाए। चेतना पर अवचेतन के प्रभावों के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने बहुत छान-बीन की है, किन्तु चेतना जो प्रभाव अचेतन पर डालती है उस पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। मानसिक आरोग्य की दृष्टि से इसका अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके ज्ञान के बिना विवेकपूर्ण विश्वास कभी भी अचेतन पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेंगे। चिन्ता के विषय में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। अपने-आपको यह विश्वास दिलाना आसान है कि यदि अमुक दुर्घटना हुई भी

तो वह इतनी भयंकर न होगी, परन्तु जब तक यह केवल एक सचेतन विश्वास रहेगा तब तक वह न तो रात्रि के प्रहरों में क्रियाशील हो सकेगा और न ही डरावने स्वप्नों को आने से रोक सकेगा। मेरा विश्वास है कि किसी सचेतन विचार को—यदि उसमें काफ़ी शक्ति और तीव्रता भर दी जाए—अचेतन में रोपित किया जा सकता है। अचेतन की रचना अधिकतर उन्हीं विचारों से होती है जो किसी समय बहुत ही भावात्मक सचेतन विचार थे और अब अन्तर्निहित हो गए हैं। विचारों को अन्तर्निहित करने की यह क्रिया सचेतन रूप से सम्भव है। इस प्रकार अचेतन से बहुत लाभप्रद काम लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए मेरा अनुभव है कि जब मुझे किसी कठिन विषय पर लिखना होता है तो मैं कई घण्टों या दिनों तक उस विषय के बारे में यथाशक्य पूरी तीव्रता के साथ सोचता रहता हूँ और तब मानो आदेश दे देता हूँ कि यह काम अचेतन में होता रहे। कुछ महीनों के बाद मैं सचेतन रूप से विषय की ओर आता हूँ और देखता हूँ कि काम पूरा हो चुका है। जब तक मैं यह तरीका मालूम नहीं कर सका था महीनों काम में प्रगति न होने के कारण चिन्तित रहा करता था। चिन्ता के बावजूद यह उपाय ढूँढने में मुझे बहुत देर लगी और महीनों तक मेरा समय नष्ट होता रहा, किन्तु अब मैं यह समय दूसरे कार्यों में लगा सकता हूँ। चिन्ताओं के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार का तरीका अपनाया जा सकता है। जब किसी दुर्घटना का डर हो तो आप सचेतन रूप से और पूरी गम्भीरता के साथ सोचिये कि यह दुर्घटना अधिक-से-अधिक कितनी भयंकर हो सकती है। इस सम्भाव्य दुर्घटना से पूरी तरह आँखें मिला लेने के बाद आप अपने मन को उचित तर्क देकर समझाइये कि यह दुर्घटना कुछ इतनी भयंकर नहीं है। इस प्रकार के तर्क हमेशा मिल जाते हैं, क्योंकि किसी व्यक्ति के साथ होने वाली बड़ी-से-बड़ी दुर्घटना का कोई जगत्व्यापी महत्त्व नहीं होता। कुछ देर तक बुरी-से-बुरी सम्भावना पर विचार कर लेने और वास्तविक विश्वास के साथ अपने-आप से यह कह लेने के बाद कि 'ऐसा हुआ भी तो बहुत बुरा न होगा' आप

महसूस करेंगे कि आपकी चिन्ता बहुत कम हो गई है। इस प्रक्रिया को कई बार दुहराना पड़ सकता है परन्तु अन्त में—यदि आपने बुरी-से-बुरी सम्भावना का सामना करने से जी नहीं चुराया है—आप यही महसूस करेंगे कि आपकी चिन्ता दूर हो चुकी है और उसका स्थान उल्लास ने ले लिया है।

यह भय से बचने के सामान्य तरीक़े का एक भाग है। चिन्ता भी एक प्रकार का डर है और हर प्रकार के डर से थकान पैदा होती है। जो व्यक्ति डर महसूस नहीं करता, उसके लिए दैनिक जीवन से पैदा होने वाली थकान में बहुत कमी हो जाती है। डर अपने सबसे अधिक हानिकर रूप में तब पैदा होता है जब कोई खतरा दिखाई दे और हम उसका सामना करना न चाहें। कभी-कभी हमारे मन में भयावह विचार उठते हैं। ये विचार क्या हैं, यह व्यक्ति-विशेष पर निर्भर है, किन्तु हर व्यक्ति ही अपने सिर पर कोई-न-कोई खतरा मँडराता महसूस करता है। किसी व्यक्ति को कैंसर का डर है, किसी को आर्थिक हानि का, किसी को कोई अपमानजनक रहस्य मालूम हो जाने का, किसी को ईर्ष्यामय सन्देह सताते रहते हैं, तो कोई रात के समय यह सोचकर भयभीत होता है कि बचपन में नरक-अग्नि की जो कहानियाँ उसने सुनी थीं वे शायद सच्ची हैं। शायद ये सब लोग अपने डर से निपटने के लिए ग़लत तरीके से काम लेते हैं। उनके मन में जब भी डर पैदा होता है तो वे किसी और बात के बारे में सोचने की कोशिश करने लगते हैं। वे आमोद-प्रमोद, काम आदि के द्वारा अपना ध्यान किसी और दिशा में मोड़ देते हैं। डर का—चाहे वह किसी भी प्रकार का हो—सामना न किया जाए तो वह और भयंकर बन जाता है। अपने ध्यान को हटाने का प्रयास वास्तव में उस प्रत्याशित संकट की भीषणता को स्वीकार कर लेने के समान है जिससे आप अपनी आँखें फेर रहे हैं। हर प्रकार के डर से निपटने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि उस पर विवेकशील और शान्तिपूर्ण ढंग से, किन्तु बहुत एकाग्रता के साथ सोच लिया जाए—यहाँ तक कि आपको उसकी पूरी जानकारी हो जाए। अन्त में यह जानकारी उसकी भीषणता को बहुत कम कर देगी, सारे

विषय से आपको ऊब होने लगेगी और आपका ध्यान उधर से हट जाएगा—पहले की तरह आपकी इच्छा-शक्ति के कारण नहीं, बल्कि विषय में कोईआकर्षण न रह जाने के कारण। जब कभी आप किसी विषय पर चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त हों तो अच्छा यही है कि आप सामान्य रूप से उस पर जितना सोचते उससे भी अधिक सोचें और जब तक उसका दु:खद आकर्षण बिलकुल खत्म न हो जाए तब तक उस पर सोचते रहें।

जिन बातों में आधुनिक नैतिकता सबसे अधिक सदोष है उनमें से एक प्रश्न भय का भी है। यह सच है कि पुरुषों से शारीरिक साहस की आशा की जाती है, विशेषकर युद्ध में ऐसे साहस की और भी आशा की जाती है। परन्तु उनसे किसी अन्य प्रकार के साहस की आशा नहीं की जाती और स्त्रियों से तो किसी भी प्रकार के साहस की आशा नहीं की जाती। यदि कोई साहसी स्त्री यह चाहती है कि पुरुष उसे पसन्द करें तो उसे अपनी यह बात छिपानी पड़ेगी। शारीरिक खतरे के अलावा किसी और क्षेत्र में जो व्यक्ति अपने साहस का प्रदर्शन करता है उसे भी बुरी दृष्टि से देखा जाता है। उदाहरण के लिए, लोक-मत की उपेक्षा एक चुनौती समझी जाती है और जनता उस व्यक्ति को, जो उसकी सत्ता की अवज्ञा करने का साहस करता है, अपनी सामर्थ्यानुसार दण्ड भी देती है। यह सब आदर्श स्थिति के ठीक विपरीत है। प्रत्येक प्रकार के साहस को—चाहे वह पुरुषों का हो या स्त्रियों का—उसी प्रकार पसन्द करना चाहिए जिस प्रकार किसी सैनिक के शारीरिक साहस को पसन्द किया जाता है। सामान्य रूप से युवकों में शारीरिक साहस का होना इस बात का प्रमाण है कि आवश्यकता पड़ने पर किसी लोकमत की अनुक्रिया के रूप में साहस का प्रदर्शन किया जा सकता है। अधिक साहस होने से चिन्ता में कमी होगी और इसलिए थकान भी कम होगी। वर्तमान युग में लोगों को जिस स्नायविक थकान का सामना करना पड़ता है, उसका एक बड़ा अंश भय के कारण है—चाहे यह भय सचेतन हो या अचेतन।

उत्तेजना की चाह थकान का एक बहुत बड़ा कारण है। यदि आदमी

अवकाश के समय सो सकता तो उसकी हालत ठीक रहती, परन्तु उसके काम के घण्टे नीरस होते हैं और छुट्टी के समय वह मौज मनाना चाहता है। खराबी यह है कि जो खुशियाँ बहुत सुलभ और वाह्यत: बहुत आकर्षक हैं, उनमें से अधिकतर स्नायविक थकान पैदा करती हैं। उत्तेजना की कामना जब एक विशेष सीमा का उल्लंघन कर ले तो उसे विकृत स्वभाव या किसी सहज-वृत्ति की अतृप्ति का लक्षण समझना चाहिए। सुखी विवाहित जीवन के प्रारम्भिक दिनों में अधिकांश लोग उत्तेजना की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, परन्तु आधुनिक संसार में विवाह को इतने दिनों तक स्थगित रखना पड़ता है कि जब आखिरकार आर्थिक दृष्टि से यह सम्भव भी होता है तो उस समय तक उत्तेजना आदत-सी बन चुकी होती है—ऐसी आदत जिसे थोड़े समय के लिए ही क़ाबू में रखा जा सकता है। यदि लोकमत विवाहित जीवन के वर्तमान आर्थिक भार को सहन किये बिना ही इक्कीस वर्ष की आयु में विवाह करने की अनुमति देता तो बहुत-से लोग कभी भी ऐसी खुशियों के पीछे नहीं भागते जो उनके काम की तरह ही थका देने वाली हैं। परन्तु यह राय देना कि ऐसा होना चाहिये, अनैतिक है, जैसा कि न्यायाधीश लिंडसे के साथ होने वाली दुर्घटना से प्रकट हो जाएगा। श्री लिंडसे को एक लम्बे काल तक प्रतिष्ठित जीवन बिताने के बावजूद बदनामी का सामना करना पड़ा, क्योंकि वह नवयुवकों को उस दुर्भाग्य से बचाना चाहते थे जो उन्हें अपने गुरुजनों की अन्ध-भक्ति के कारण झेलना पड़ता है। मैं इस समय इस विषय की अधिक चर्चा नहीं करूँगा, क्योंकि यह विषय ईर्ष्या शीर्षक के अन्तर्गत है जिसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

साधारण व्यक्ति जिन क़ानूनों और प्रथाओं के अधीन जीवन-यापन करता है, उन्हें वह बदल नहीं सकता और इसलिए उसके लिए उस स्थिति का सामना करना बहुत कठिन है जो अत्याचारी नीतिवादियों ने उत्पन्न कर दी है और उसे स्थायी बनाये हुए हैं। फिर भी यह समझ लेना लाभदायक होगा कि उत्तेजना से भरी खुशियाँ हमें सुख की ओर नहीं ले

जातीं, यद्यपि जब तक अधिक तृप्तिप्रद आनन्द नहीं मिलता तब तक आदमी यही सोच सकता है कि उत्तेजना की सहायता के बिना जीवन शायद सह्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में समझदार आदमी यही कर सकता है कि वह सँभलकर चले और थका डालने वाली खुशियों में इतना भाग न ले कि उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े या उसके कार्य में बाधा उत्पन्न हो। युवकों के कष्टों का आधारभूत प्रतिकार तभी सम्भव है जब समुदाय के नैतिक नियमों में परिवर्तन हो। तब तक के लिए युवक के लिए यही सोचना ठीक है कि वह आगे चलकर कभी-न-कभी विवाह करने के योग्य बनेगा और इसलिए ऐसा जीवन बिताना बुद्धिमानी की बात न होगी जो सुखी विवाहित जीवन के लिए घातक हो। और वास्तव में स्नायविक थकान तथा सूक्ष्म आनन्द के रसास्वादन की क्षमता खो देने के कारण सुखी विवाहित जीवन असम्भव हो भी जाता है।

स्नायविक थकान की एक बहुत बड़ी खराबी यह है कि वह व्यक्ति और बाह्य-जगत् के बीच एक पर्दा-सा तान देती है। प्रभाव उस तक पहुँचते हैं किन्तु जैसे ढके-ढके और धीमे-धीमे। लोगों की छोटी-मोटी हरकतों और खास तरह की चेष्टाओं पर झुँझलाने के अलावा वह उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। उसे भोजन या धूप में कोई आनन्द नहीं आता। उसका ध्यान पूरी तीव्रता के साथ कुछ ही वस्तुओं पर केन्द्रित रहता है और अन्य सभी वस्तुओं के प्रति वह उदासीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में विश्राम करना असम्भव हो जाता है और इसलिए थकान निरन्तर बढ़ती ही रहती है, यहाँ तक कि चिकित्सा आवश्यक हो जाती है। वास्तव में यह सब धरती से अपने उस सम्पर्क को तोड़ डालने की शास्ति है जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। परन्तु आधुनिक विशाल नगरों की अत्यधिक घनी आबादी में इस सम्पर्क की रक्षा कैसे की जा सकती है, इसका उत्तर देना किसी भी प्रकार से सरल नहीं है। यहाँ हम फिर ऐसे बड़े सामाजिक प्रश्नों को छूते दिखाई देते हैं, जिनकी चर्चा करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है।

छठा अध्याय

ईर्ष्या

चिन्ता के बाद दुःख का एक और बहुत ही महत्वपूर्ण कारण ईर्ष्या है। मेरे विचार में ईर्ष्या उन सर्वजन-व्यापी मानवीय भावनाओं में से है, जिनकी जड़ें बहुत गहरी हैं। एक वर्ष से कम उम्र के बच्चों में भी यह बहुत अधिक दिखाई देती है और बच्चे की देख-भाल करने वाले को इस सम्बन्ध में बहुत सावधानी के साथ व्यवहार करना चाहिए। यदि किसी बालक की उपेक्षा करते हुए दूसरे बालक के साथ ज़रा-सा भी प्यार का बरताव किया जाए तो वह उसे तुरन्त देख लेता है और इसका बुरा मानता है। इसलिए जिन लोगों को बच्चों से सरोकार है उन्हें किसी भी चीज़ को बाँटने में न्याय का कठोरता के साथ पालन करना चाहिए। बच्चों में ईर्ष्या और जलन (जो ईर्ष्या का ही एक विशेष रूप है) वयस्कों की अपेक्षा कुछ ज्यादा खुले रूप में प्रकट होती है। परन्तु भाव एक ही है जो वयस्कों में भी उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार बालकों में। उदाहरण के लिए नौकरानियों को लीजिए। मुझे याद है कि एक बार हमारी एक नौकरानी, जो विवाहिता स्त्री थी, गर्भवती हो गई थी और हम लोगों ने उसे भारी चीज़ उठाने से मना किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरी नौकरानियों ने भी भारी सामान उठाना बन्द कर दिया और यह काम स्वयं हम लोगों को करना पड़ता था। लोकतन्त्र का आधार भी ईर्ष्या है। हेराक्लाइटस का मत था कि एफ़ेसस के सब नागरिकों को फाँसी दे देनी चाहिए, क्योंकि वे कहते हैं, "हम लोगों में से कोई भी प्रथम नहीं होगा।" यूनानी राज्यों में लोकतन्त्र के आन्दोलन

को इसी उत्कट भावना से प्रेरणा मिली होगी। आधुनिक लोकतन्त्र के बारे में भी यही बात सही है। इसमें सन्देह नहीं कि एक आदर्शवादी सिद्धान्त भी है जो लोकतन्त्र को शासन का सबसे अच्छा रूप मानता है। मेरे विचार में यह सिद्धान्त सही है। परन्तु व्यावहारिक राजनीति का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ आदर्शवादी सिद्धान्त इतने प्रबल हों कि महान् परिवर्तन कर सकें। जब महान् परिवर्तन होते हैं तो इन्हें उचित प्रमाणित करने वाले सिद्धान्त सदा ही उत्कट भावना को छिपाने का साधन होते हैं। और जिस उत्कट भावना ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों को प्रेरक शक्ति दी है वह निस्संदेह ईर्ष्या की उत्कट भावना है। मादाम रोलाँ के संस्मरण पढ़िए, जिनके बारे में अक्सर कहा जाता है कि उनका व्यक्तित्व बहुत उदात्त था और उन्हें जनता से हार्दिक प्रेम था। आपको पता चलेगा कि जब कभी वह किसी जागीरदार की हवेली में जाती थीं तो उन्हें नौकरों के कमरे में बैठाया जाता था और इसी अनुभूति ने उन्हें इतना कट्टर लोकतन्त्रवादी बना दिया।

सम्मानित परिवार की स्त्रियों में ईर्ष्या की भावना असाधारण रूप से क्रियाशील होती है। यदि आप ज़मीन के भीतर चलने वाली रेल-गाड़ी में बैठे हों और कोई स्त्री बहुत अच्छे कपड़ों में गाड़ी के पास से गुज़रे तो उस समय आप दूसरी स्त्रियों की आँखों की ओर देखिए। आप देखेंगे कि शायद केवल उन स्त्रियों को छोड़कर, जो उससे भी अच्छे कपड़ों में होंगी, अन्य सभी स्त्रियाँ उसे द्वेष-भरी दृष्टि से देख रही होंगी और कुछ ऐसे निष्कर्ष निकालने की कोशिश कर रही होंगी जिनसे उसका अपमान होता हो। दूसरी स्त्रियों को बदनाम करने का शौक़ भी इसी सामान्य द्वेष-भावना का द्योतक है। अन्य स्त्री के खिलाफ़ किसी भी बात का विश्वास थुथले-से-थुथला प्रमाण होने पर भी कर लिया जाता है। ऊँची नैतिकता से भी इसी प्रयोजन की सिद्धि होती है। जो स्त्रियाँ इस नैतिकता का उल्लंघन करके पाप करती हैं उन्हें ईर्ष्या की दृष्टि से देखा जाता है और उन्हें इसके लिए दंड देना सदाचरण माना जाता है।

यह विशेष सद्गुण निस्सन्देह अपना पुरस्कार आप है।

ठीक यही विशेषता पुरुषों में भी देखने को मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि स्त्रियाँ दूसरी सभी स्त्रियों को अपना प्रतियोगी समझती हैं, जबकि पुरुष केवल सहव्यवसायियों के प्रति ऐसी भावना रखते हैं। क्या कभी आपने किसी कलाकार की दूसरे कलाकार से प्रशंसा करने की धृष्टता की है? क्या कभी आपने किसी राजनीतिज्ञ की प्रशंसा उसके दल के किसी और राजनीतिज्ञ से की है? क्या कभी आपने किसी मिस्र-तत्त्ववेत्ता की प्रशंसा दूसरे मिस्र-तत्त्ववेत्ता से की है? यदि की है तो निस्सन्देह आपने सुनने वाले के मन में डाह की तीव्र भावना उत्पन्न की होगी। लाइबनित्स और हाइगेन्स ने एक-दूसरे को लिखे अनेक पत्रों में इस कल्पित तथ्य पर कि न्यूटन पागल हो गया है, दुःख प्रकट किया है। उन्होंने एक-दूसरे को लिखा था, "क्या यह दुःख की बात नहीं है कि न्यूटन की अद्वितीय प्रतिभा पर विवेकहीनता के कारण अन्धकार छा जाए।" और इन विख्यात व्यक्तियों ने लगातार कई पत्रों में झूठे आँसू बहाए, जिसमें उन्हें अवश्य खूब आनन्द मिला होगा। वास्तव में वे जिस घटना पर बनावटी शोक प्रकट कर रहे थे वह घटी ही नहीं थी, यद्यपि न्यूटन की सनक की कुछ घटनाओं से इस तरह की अफ़वाह फैल गई थी।

सामान्य मानव स्वभाव के विकारों में ईर्ष्या सबसे अधिक दुःखदायी है। ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरों को दुःख तो पहुँचाना ही चाहता है—और जब बे-खटके ऐसा कर सकता हो तो करता भी है—किन्तु साथ ही वह ईर्ष्या के कारण स्वयं भी दुःखी रहता है। उसके पास जो कुछ है उससे खुश होने की बजाय वह दूसरों के पास जो कुछ है उससे दुःखी होता है। उसका बस चलने पर वह दूसरों को उनकी सुविधाओं से वंचित कर देता है और इससे उसे उसी प्रकार की खुशी होती है जैसी इन सुविधाओं को अपने लिए प्राप्त करने में। यदि इस उत्कट भावना को अनियंत्रित छोड़ दिया जाए तो यह प्रत्येक प्रकार के कौशल और प्रतिभा के सदुपयोग के लिए घातक हो जाती है। किसी डॉक्टर को रोगी देखने के लिए कार

में जाने का क्या अधिकार है, जब कि मजदूर को चलकर कारखाने जाना पड़ता है। वैज्ञानिक अन्वेषक को गरम कमरे में रहने का अवसर क्यों मिलना चाहिए, जब कि दूसरे लोगों को प्रकृति की दुःसह्य परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है? किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसकी प्रतिभा दुर्लभ और संसार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, घर के काम-काज के कष्ट से क्यों मुक्त होना चाहिए? ईर्ष्या को इस प्रकार के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता। सौभाग्य से, मानव-स्वभाव में इसके प्रतिकार के लिए पसन्द करने की वृत्ति भी है। जो व्यक्ति मानव-सुख में वृद्धि करना चाहता है उसे दूसरों को पसन्द करने की वृत्ति में वृद्धि और ईर्ष्या में कमी करने का इच्छुक भी होना चाहिए।

ईर्ष्या से मुक्ति पाने का उपाय क्या है? सन्त के लिए इसका उपाय आत्म-त्याग है। यद्यपि यह सर्वथा असम्भव नहीं है कि एक सन्त को दूसरे सन्तों से ईर्ष्या हो। मुझे सन्देह है कि यदि सेंट साइमन स्टाइलाइट्स को मालूम होता कि कोई सन्त उनकी अपेक्षा अधिक पतले स्तम्भ पर ज्यादा दिनों तक खड़ा रहा तो वह यह जानकर बहुत प्रसन्न होते। परन्तु सन्तों की बात छोड़िए। ज़हाँ तक साधारण पुरुषों और स्त्रियों का सम्बन्ध है, ईर्ष्या से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है और वह है सुख। किन्तु कठिनाई यह है कि स्वयं ईर्ष्या सुख के लिए एक बहुत बड़ी रुकावट है। मेरे विचार में ईर्ष्या को शैशव के दुखों से बहुत प्रोत्साहन मिलता है। जो बच्चा यह महसूस करता है कि उसकी अपेक्षा उसके भाई या बहन को ज्यादा पसन्द किया जा रहा है, उसे ईर्ष्या करने की आदत हो जाती है। जब वह बड़ा होकर संसार में निकलता है तो उसकी दृष्टि उन अन्यायों को ढूंढ़ती रहती है जिनका वह स्वयं शिकार रहा है। इस प्रकार का अन्याय कहीं होता है तो उसका बोध उसे तुरन्त हो जाता है और यदि ऐसा कोई अन्याय न हो तो भी वह उसकी कल्पना करने लगता है। इस प्रकार का व्यक्ति अनिवार्यतः दुःखी रहता है और अपने मित्रों के लिए भी—जो काल्पनिक उपेक्षा के सम्बन्ध में हमेशा सावधान नहीं रह सकते—

एक मुसीबत बन जाता है। आरम्भ से ही उसका यह विश्वास रहा है कि कोई आदमी उसे पसन्द नहीं करता और इस प्रकार अन्त में वह अपने व्यवहार से अपनी धारणा को सही साबित कर देता है। बचपन का एक और भी दुर्भाग्य है जिसका ऐसा ही परिणाम होता है और वह है माता-पिता को बच्चे से विशेष स्नेह न होना। घर में कोई ऐसा भाई या बहन न हो जिसके साथ अधिक प्यार का व्यवहार किया जाता हो, तो बच्चा यह महसूस कर सकता है कि दूसरे घर के बच्चों से उनके माता-पिता जितना स्नेह करते हैं उतना स्नेह उसे अपने माता-पिता से नहीं मिलता। इसके कारण उसे दूसरे बच्चों और अपने माता-पिता से घृणा हो जाएगी और बड़ा होने पर वह अपने-आपको 'इस्माइल' समझने लगेगा। कुछ सुख ऐसे हैं जो हर व्यक्ति के जन्म-सिद्ध अधिकार हैं और जिसे ये सुख नहीं मिलते उसमें अनिवार्य रूप से वक्रता और कटुता आ जाती है।

परन्तु ईर्ष्यालु व्यक्ति कह सकता है—"यह कहने का क्या लाभ है कि ईर्ष्या से मुक्त होने का उपाय सुख है? जब तक मुझमें ईर्ष्या की भावना रहेगी तब तक मैं सुखी नहीं रह सकता और आप मुझसे कहते हैं कि जब तक मुझे सुख नहीं मिलता तब तक ईर्ष्या से मुक्त नहीं हो सकता।" परन्तु वास्तविक जीवन कभी भी इतना तर्क-संगत नहीं होता। यदि व्यक्ति अपनी ईर्ष्यामयी भावनाओं के कारणों को केवल समझ जाए तो वह उनसे मुक्त होने की दिशा में बहुत बड़ा काम कर लेगा। तुलनात्मक रीति से सोचने की प्रवृत्ति एक घातक प्रवृत्ति है। जब कोई सुखद घटना हो तो उसका पूरा आनन्द लेना चाहिये और यह नहीं सोचना चाहिए कि यह घटना उतनी सुखद नहीं है जितनी कि शायद किसी और व्यक्ति के साथ घट रही हो। ईर्ष्यालु व्यक्ति कहेगा—"सच है कि धूप निकली हुई है और वसन्त ऋतु है, पक्षी चहक रहे हैं और फूल खिले हुए हैं, परन्तु मुझे मालूम है कि सिसिली का वसन्त इससे हज़ार गुना सुन्दर है, हेलिकोन के उपवन में पक्षियों के गीत अधिक मनमोहक होते हैं और शेरन में खिले गुलाब के फूल जितने सुन्दर होते हैं उतना

सुन्दर फूल मेरी वाटिका में एक भी नहीं है ।" और यह सोचते ही धूप की चमक मिट जाती है, पक्षियों का गीत अर्थहीन चहचहाहट में बदल जाता है और फूलों की ओर पल-भर के लिए भी देखने की इच्छा नहीं होती। जीवन के दूसरे सभी आनन्द के प्रति उसका यही दृष्टिकोण होता है। वह मन में कहेगा—"यह ठीक है कि मेरी प्रेमिका सुन्दर है, मैं उससे प्रेम करता हूँ और वह मुझसे प्रेम करती है, परन्तु शेबा की रानी कितनी अधिक सुन्दर रही होगी ! काश, मुझे भी वैसे सुअवसर प्राप्त होते जो सुलेमान को प्राप्त थे !" इस प्रकार की सभी तुलनाएँ निरर्थक और मूर्खतापूर्ण हैं। असन्तोष का कारण चाहे शेबा की रानी हो या हमारा कोई पड़ोसी, दोनों में से किसी का भी कोई महत्त्व नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति के पास जो कुछ है वह उसके लिए केवल इसलिए आनन्द-रहित नहीं हो जाता कि किसी दूसरे व्यक्ति के पास कुछ और है। वास्तव में ईर्ष्या एक प्रकार का दुर्गुण है जो कुछ नैतिक भी है और कुछ बौद्धिक भी। वस्तुओं को अपने-आपमें न देखना और सदा ही उन्हें उनकी सापेक्षता में देखना इसकी विशेषता है। मान लीजिए कि मुझे जो वेतन मिल रहा है वह मेरी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त है। मुझे सन्तुष्ट रहना चाहिए, किन्तु मुझे मालूम होता है कि कोई व्यक्ति, जिसको मैं किसी भी प्रकार अपने से अधिक योग्य नहीं मानता, मुझसे दुगुना वेतन ले रहा है। यदि ईर्ष्या करना मेरा स्वभाव है तो उसी क्षण मेरे पास जो कुछ है उससे तुष्टि प्राप्त करने की सम्भावना बहुत कम हो जाएगी और अपने प्रति अन्याय की भावना से मैं कुढ़ने लगूंगा। इससे मुक्त होने का उचित उपाय मानसिक अनुशासन है, यानी व्यर्थ की चिन्ताओं में सिर न खपाने की आदत। सुख से अधिक ईर्ष्या भला और किस वस्तु से हो सकती है ? यदि मैं अपने-आपको ईर्ष्या से मुक्त कर लूं तो मुझे सुख मिल सकता है और लोग मुझे ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकते हैं। जो व्यक्ति मुझसे दुगुना वेतन ले रहा है, वह भी निस्सन्देह यह सोचकर पीड़ित रहता है कि कोई और व्यक्ति उससे भी दुगुना वेतन ले रहा है और इस

प्रकार इस क्रम का कभी अन्त नहीं होता। यदि आप वैभव के अभिलाषी हैं तो आपको नेपोलियन से ईर्ष्या हो सकती है। परन्तु नेपोलियन को सीज़र से ईर्ष्या थी और सीज़र को सिकन्दर से—और मैं दावे से कह सकता हूँ कि सिकन्दर को उस हर्कुलीस से ईर्ष्या होगी जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। इसलिए आप केवल सफलता के द्वारा ईर्ष्या से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि इतिहास या गाथाओं में हमेशा ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे, जिनकी सफलता आपसे भी अधिक होगी। ईर्ष्या से मुक्त होने का उपाय यही है कि जो खुशियाँ आपको मिलें उनका रसास्वादन करें, अपना काम करते रहें और ऐसे लोगों से अपनी तुलना न करें जिन्हें आप, शायद बिलकुल ग़लत ही, अपने-आपसे अधिक सौभाग्यवान् समझते हैं।

अनावश्यक अभिमान-हीनता का ईर्ष्या से बहुत गहरा सम्बन्ध है। अभिमान-हीनता सद्गुण मानी जाती है, किन्तु मुझे बहुत सन्देह है कि अपने आत्यन्तिक रूप में उसे ऐसा समझा जा सकता है। निरभिमान व्यक्तियों को उनकी शक्ति का बहुत विश्वास दिलाने की आवश्यकता होती है और वे बहुधा ऐसे कार्य करने का भी साहस नहीं करते जिनको करने की उनमें पूरी सामर्थ्य होती है। निरभिमान व्यक्ति आमतौर से जिन लोगों के सम्पर्क में रहते हैं, उनसे वे अपने-आपको पिछड़ा हुआ महसूस करते हैं। इसलिए ईर्ष्या करने और ईर्ष्या के कारण दुःखी रहने तथा वैर-भाव रखने की प्रवृत्ति उनमें विशेष रूप से आ जाती है। मेरी दृष्टि में लड़के का पालन-पोषण इस प्रकार करने का बहुत महत्त्व है जिससे वह अपने-आपको अच्छा व्यक्ति समझे। मेरे विचार में किसी भी मोर को दूसरे मोर की पूँछ देखकर ईर्ष्या नहीं होती, क्योंकि हर मोर यही समझता है कि उसकी पूँछ संसार में सबसे अच्छी है। इसीलिए मोर शान्तिप्रिय पक्षी है। यदि मोर को यह शिक्षा मिली होती कि अपने-आपको अच्छा समझना बुरा है, तो कल्पना कीजिए कि उसका जीवन कितना दुःखी होता। जब कभी वह किसी दूसरे मोर को अपनी पूँछ

फैलाते देखता, अपने मन में कहता—"मुझे यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरी पूँछ उससे अच्छी है, क्योंकि यह आत्मश्लाघा होगी, किन्तु यदि ऐसा ही होता तो कितना अच्छा था ! इस घृण्य पक्षी को अपने भव्य होने का कितना विश्वास है ! क्या मैं उसके कुछ पंख नोच लूँ ? तब शायद मुझे उससे अपनी तुलना करने में कोई डर नहीं रहेगा।" या शायद वह उसे किसी जाल में फाँस लेगा और साबित कर देगा कि वह एक दुष्ट मोर है जिसका आचरण मयूरोचित नहीं है। वह नेताओं की सभा में उसकी निन्दा करेगा। धीरे-धीरे वह इस सिद्धान्त की स्थापना करेगा कि अच्छी पूँछ वाले मोर सदा ही दुष्ट होते हैं और मयूर-राज्य का बुद्धिमान शासक ऐसे पक्षी को छाँट लेगा जिसकी पूँछ में केवल एक-दो पर लटकते होंगे। यह सिद्धान्त मनवा लेने के बाद वह सब सुन्दर मोरों को मरवा डालेगा और अन्त में भव्य पूँछ अतीत की धुँधली स्मृति बनकर रह जाएगी। यह है वह विजय, जो ईर्ष्या नैतिकता का वेश धारण करके प्राप्त करती है। परन्तु जहाँ प्रत्येक मोर अपने-आपको दूसरे मोर से अधिक भव्य समझता है वहाँ इस प्रकार के दमन की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मोर प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार पाने की आशा रखता है और चूँकि वह अपनी मोरनी को बहुत प्रिय ढंग से रखता है, इसलिए वह समझता है कि उसने यह सफलता प्राप्त कर ली है।

निस्सन्देह ईर्ष्या का प्रतियोगिता से गहरा सम्बन्ध है। हमें किसी व्यक्ति की ऐसी समृद्धि से ईर्ष्या नहीं होती जिसे हम अपने लिए सर्वथा अलभ्य समझते हों। श्रेणियों में विभाजित समाज-व्यवस्था में जब तक धनी और निर्धन के भेद को भगवान् की आज्ञा माना जाता है तब तक निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों को ईर्ष्या की दृष्टि से नहीं देखते। भिखारियों को लखपतियों से ईर्ष्या नहीं होती यद्यपि वे दूसरे भिखारियों को, जो उनसे अधिक सफल हों, ईर्ष्या की दृष्टि से देखेंगे। आधुनिक संसार में सामाजिक स्तर की अस्थिरता और लोकतन्त्र तथा समाजवाद के समानतामूलक सिद्धान्तों ने ईर्ष्या के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है।

इस समय तो यह अनिष्ट है, परन्तु यह ऐसा अनिष्ट है जिसे अधिक न्याय-संगत समाज-व्यवस्था तक पहुँचने के लिए सहन करना आवश्यक है। विषमताओं के सम्बन्ध में जब विवेकपूर्ण ढंग से विचार किया जाता है तो केवल उन विषमताओं को छोड़कर, जिनका आधार कोई उच्चकोटि का गुण है, बाकी सब हमेशा ही अन्याय पर आवृत दिखाई देती हैं। और जब वे अन्याय पर आधृत दिखाई देती हैं तो इससे उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या का एकमात्र प्रतिकार यही है कि इस अन्याय को दूर किया जाए। इस-लिए हमारा युग एक ऐसा युग है जिसमें ईर्ष्या का विचित्र रूप से बहुत बड़ा स्थान है। निर्धन धनी से ईर्ष्या करते हैं और निर्धन राष्ट्र धनी राष्ट्रों से, स्त्रियाँ पुरुषों से ईर्ष्या करती हैं और सदाचारिणी स्त्रियों को उन स्त्रियों से ईर्ष्या होती है जो कदाचारिणी होते हुए भी अदण्डित हैं। जहाँ यह सच है कि विभिन्न वर्गों, विभिन्न राष्ट्रों और पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच न्याय की स्थापना के लिए ईर्ष्या मुख्य अभिप्रेरक शक्ति है, वहाँ यह भी सच है कि ईर्ष्या से जिस न्याय की स्थापना की आशा की जा सकती है, वह सम्भवतः बहुत ही खराब क़िस्म का न्याय होगा, अर्थात् ऐसा न्याय जो अभागों की खुशियों में वृद्धि करने की अपेक्षा सौभाग्यवान् की खुशियों को घटा देगा। जो उत्कट भावनाएँ वैयक्तिक जीवन में विनाशकारी सिद्ध होती हैं वे सार्वजनिक जीवन में भी विनाश-कारी सिद्ध होती हैं। यह बात नहीं मानी जा सकती कि ईर्ष्या जैसी अमंगल वस्तु से अच्छे परिणाम निकलेंगे। इसलिए जो लोग आदर्श-वादी कारणों से हमारी समाज-व्यवस्था में गहरे परिवर्तन और सामा-जिक न्याय में बहुत अधिक वृद्धि के इच्छुक हैं, उन्हें आशा करनी चाहिए कि ईर्ष्या के अतिरिक्त कुछ दूसरी ही शक्तियाँ ये परिवर्तन लाने में सहायक होंगी।

सब बुरी वस्तुएँ एक-दूसरे से संपृक्त होती हैं और इनमें से कोई एक किसी दूसरी का कारण बन सकती है। विशेषकर थकान बहुधा ईर्ष्या का कारण होती है। जब कोई व्यक्ति अपना कार्य करने में कुछ असामर्थ्य

अनुभव करता है तो उसके मन में एक सामान्य असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है। यह असन्तोष उन लोगों के प्रति ईर्ष्या में बदल सकता है जिनका काम अपेक्षाकृत कम कष्ट-साध्य है। इसलिए ईर्ष्या को कम करने का एक उपाय यह है कि थकान में कमी लाई जाए। परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपाय यह है कि ऐसा जीवन विताया जाए जो सहज वृत्ति के लिए तृप्तिदायक हो। विशुद्ध रूप से व्यावसायिक प्रतीत होने वाली ईर्ष्या में से अधिकतर का स्रोत वास्तव में सेक्स होता है। जिस व्यक्ति को विवाहित जीवन और सन्तान का सुख प्राप्त है, उसे सम्भवतः दूसरे लोगों के अधिक धन या सफलता से तब तक कोई ईर्ष्या नहीं होगी जब तक उसके पास अपनी इच्छानुसार जैसे ठीक समझे वैसे बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए पर्याप्त धन रहेगा। मानव-सुख के मूल तत्त्व बहुत साधारण हैं, इतने साधारण कि अवसंस्कृत व्यक्तियों के लिए यह स्वीकार करना असम्भव है कि उनके जीवन में वस्तुतः किस चीज का अभाव है। हमने ऊपर ऐसी स्त्रियों की चर्चा की है जो किसी स्त्री को अच्छे कपड़ों में देखती हैं तो उनके मन में ईर्ष्या होती है। ऐसी स्त्रियों के सम्बन्ध में विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वे अपने सहज जीवन में सुखी नहीं हैं। अंग्रेजी-भाषी संसार में, विशेषकर स्त्रियों में सहज सुख दुर्लभ है। ऐसा लगता है कि सभ्यता इस सम्बन्ध में रास्ते से भटक गई है। यदि ईर्ष्या को कम करना है तो इस स्थिति के प्रतिकार का कोई उपाय ढूंढ़ना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा इस बात का खतरा है कि कहीं हमारी सभ्यता घृणा के तूफ़ान में विनष्ट न हो जाए। पुराने समय में लोगों को केवल अपने पड़ोसियों से ईर्ष्या होती थी, क्योंकि दूसरे लोगों के बारे में वे बहुत कम जानते थे। अब शिक्षा और समाचारपत्रों के द्वारा वे मानसिक रूप से ऐसी अनेक जन-जातियों के बारे में जानते हैं जिनका कोई भी व्यक्ति उनका परिचित नहीं है। सिनेमा के द्वारा वे अपने तौर पर जान लेते हैं कि धनी लोग किस प्रकार रहते हैं, समाचार-पत्रों के द्वारा उन्हें दूसरे देशों की दुष्टता की जानकारी

प्राप्त होती रहती है और प्रचार के द्वारा उन्हें उन लोगों की बदमाशियों की खबर मिलती रहती है, जिनकी त्वचा का रंग उनसे भिन्न है। पीत वर्ण की जातियां श्वेत वर्ण की जातियों से घृणा करती हैं और श्वेत वर्ण की जातियाँ कृष्ण वर्ण की जातियों से। आप कह सकते हैं कि यह घृणा प्रचार द्वारा उत्पन्न हुई है, किन्तु यह कारण कुछ छिछला है। क्या कारण है कि प्रचार घृणा की भावना को उत्तेजित करने में इतना अधिक सफल होता है जबकि मैत्री-भाव को जागृत करने में उसे इतनी कम सफलता मिलती है ? इसका कारण स्पष्ट है। आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य के हृदय को कुछ ऐसा बना दिया है कि मैत्री का प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा वह घृणा का प्रभाव अधिक ग्रहण करता है। और घृणा की ओर उसका झुकाव इसलिए है क्योंकि वह असन्तुष्ट है, क्योंकि वह अन्तर्तल में और सम्भवतः अचेतन रूप से भी यही महसूस करता है कि उसने जीवन की सार्थकता खो दी है और शायद हम लोगों को नहीं, बल्कि दूसरों को वे सारी अच्छी वस्तुएँ मिल गई हैं, जिन्हें प्रकृति मनुष्य के आनन्द के लिए उत्पन्न करती है। आधुनिक युग के व्यक्ति के जीवन की खुशियाँ आदिम समुदायों की अपेक्षा निस्संदेह बहुत अधिक हैं, किन्तु और जो कुछ हो सकता है इसके ज्ञान में इससे भी अधिक वृद्धि हुई है। आप कभी अपने बच्चों के साथ चिड़ियाघर देखने जाएँ तो आपको वानरों की आँखों में—जब वे कसरत न कर रहे हों या बादाम न तोड़ रहे हों—एक विचित्र उदासी दिखाई दे सकती है। इसे देखकर मन में यह विचार आ सकता है कि वे महसूस करते हैं कि उन्हें मानव होना चाहिए, किन्तु वह भेद नहीं जान पाते कि यह किस प्रकार सम्भव है। विकास के मार्ग पर वे अपना रास्ता भूल चुके हैं। उनके भाई आगे बढ़ गए और वे पीछे छूट गए। कुछ इसी प्रकार की उदासी और व्यथा ने सभ्य मानव की आत्मा में प्रवेश कर लिया है। वह जानता है कि उससे भी अच्छी कोई वस्तु बिलकुल उसके पास ही है, किन्तु फिर भी वह नहीं जानता कि उसे कहाँ और कैसे प्राप्त करे ! निराश होकर वह मनुष्य

के प्रति ही—जो उसी की तरह भटका हुआ और दुःखी है—क्रोध प्रकट करता है। हम इस समय विकास की ऐसी अवस्था में हैं जो अन्तिम नहीं है। हमें इसे शीघ्र पार कर लेना चाहिए, अन्यथा हममें से अधिकांश रास्ते में मर जाएँगे और जो बचे रहेंगे वे सन्देह और भय के जंगल में भटकते फिरेंगे। अतः ईर्ष्या—अनिष्ट होते हुए भी और उसके परिणाम भयंकर होने के बावजूद—केवल दानव की विशेषता नहीं है। आंशिक रूप से यह एक वीरोचित व्यथा की अभिव्यक्ति भी है और यह व्यथा उन व्यक्तियों की है जो रात में अन्धे की भांति चल रहे हैं—शायद किसी अच्छे विश्रामागार की ओर, शायद केवल मृत्यु और विनाश की ओर! इस निराशा से निकलने का उपयुक्त मार्ग ढूंढ़ने के लिए सभ्य मानव को अपने हृदय में विशालता लानी होगी, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने अपने मस्तिष्क को विशाल बना लिया है। उसे अहं से ऊपर उठने और इस प्रकार ब्रह्माण्ड की भांति मुक्त होने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।

सातवाँ अध्याय

पाप की भावना

पाप की भावना के सम्बन्ध में हम पहले अध्याय में कुछ लिख चुके हैं, किन्तु अब हमें इसकी विस्तृत विवेचना करनी चाहिए, क्योंकि वयस्क जीवन के दुःख के मूल मनोवैज्ञानिक कारणों में से यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण है।

पाप का एक परम्परागत धार्मिक मनोविज्ञान भी है जिसे आज का कोई मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं कर सकता। लोगों की, विशेषकर प्रोटेस्टेंट वर्ग की धारणा थी कि मनुष्य में जब कोई पाप की प्रवृत्ति होती है तो अन्तःकरण उसे सचेत कर देता है और जब वह कोई ऐसा काम कर बैठता है तो उसके मन में आत्म-ग्लानि और अनुताप, इन दो दुःखदायी भावनाओं में से कोई एक भावना उत्पन्न हो सकती है। आत्म-ग्लानि में कोई गुण नहीं होता, जबकि अनुताप में अपराध को धो देने की शक्ति होती है। प्रोटेस्टेंट देशों में बहुत-से आस्थाहीन लोगों में भी बहुत दिनों तक थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ पाप की यही पुरानी धारणा मान्य रही। हमारे युग में स्थिति इसके विपरीत है, जिसका एक कारण आंशिक रूप से मनोविश्लेषण है। पाप-सम्बन्धी पुरानी धारणा को केवल वही लोग अस्वीकार नहीं करते जो कट्टर नहीं हैं, वरन् बहुत-से ऐसे लोगों के लिए भी यह अमान्य है, जो अपने-आपको अभी तक कट्टर समझते हैं। अन्तः-करण अब कोई रहस्य की वस्तु नहीं रहा और रहस्यमय होने के कारण ही उसे ईश्वर की वाणी माना जा सकता था। हम जानते हैं कि संसार के विभिन्न भागों में अन्तःकरण की ओर से विभिन्न प्रकार के कर्म करने

की आज्ञा मिलती है और सामान्य रूप से यह अन्तःकरण सर्वत्र ही कबीले की प्रथाओं के अनुरूप होता है। अब हम देखें कि जब किसी का अन्तः-करण उसे कचोटता है तो वास्तव में होता क्या है ?

वस्तुतः 'अन्तःकरण' शब्द की परिधि में कई विभिन्न भावनाएँ आ जाती हैं और जिनमें सबसे सरल भावना पाप का पता चल जाने का भय है। मुझे अपने पाठकगण के सम्बन्ध में पूरा विश्वास है कि उनका जीवन पूर्णतया निष्कलंक रहा है, किन्तु यदि किसी व्यक्ति ने कभी कोई ऐसा आचरण किया हो जिसका पता लगने पर उसे दण्डित होना पड़ सकता है, तो आप पायेंगे कि जब उसका भेद खुलने ही वाला होता है तब वह अपने अपराध पर पछताता है। मैं यह नहीं कहता कि यह बात पेशेवर चोर के सम्बन्ध में भी सही है जिसको अपने काम में थोड़ी-बहुत क़ैद की आशंका रहती है, क्योंकि यह जोखिम इस काम के साथ जुड़ी होती है। परन्तु यह उन लोगों के बारे में अवश्य सही है जिन्हें सम्मानित अपराधी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी ऐसे बैंक मैनेजर को ले सकते हैं जिसने किसी मुसीबत के समय में ग़बन कर लिया हो, या किसी ऐसे पादरी को जो वासना से अभिभूत होकर कोई ऐन्द्रिय अनाचार कर बैठा हो। यदि अपराध का पता लगने की सम्भावना न रहे तो ये लोग अपना अपराध भूल सकते हैं, किन्तु जब वे पकड़ लिए जाते हैं, या पकड़ लिए जाने का भारी खतरा होता है तो वे सोचने लगते हैं—काश वे अधिक सदाचारी होते ! और इसके परिणामस्वरूप उनके मन में अपराध की भीषणता की तीव्र भावना उत्पन्न हो सकती है। इस भावना से एक-दम सम्बद्ध एक और भावना भी है और वह है समुदाय द्वारा परित्यक्त कर दिए जाने का भय। जो व्यक्ति ताश के खेल में धोखा करता है या ऋण-शोध में असमर्थ रहता है, तो उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं रहती जिससे पकड़ लिए जाने पर वह समुदाय के रोष का सामना कर सके। इस दृष्टि से वह किसी नए धार्मिक सम्प्रदाय के उद्भावक, अराजकता-वादी और क्रान्तिकारी से भिन्न है, क्योंकि ये लोग सोचते हैं कि वर्तमान

उनके साथ चाहे जैसा भी व्यवहार करे, भविष्य उनका है और इस समय उनसे जितनी घृणा की जाती है भविष्य में उनका उतना ही सम्मान किया जाएगा। ये लोग समुदाय के वैर के बावजूद अपने-आपको पापी नहीं समझते। किन्तु समुदाय की नैतिकता को पूर्णतः स्वीकार करने वाला व्यक्ति जब इस नैतिकता के विरुद्ध कोई आचरण करता है और समुदाय उसे वहिष्कृत कर देता है, तो उसे बहुत दुःख होता है। इस विपत्ति का भय या यदि विपत्ति आ चुकी हो तो उसका दुःख उसे अपने आचरण को पापपूर्ण समझने पर बाध्य कर सकता है।

परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में पाप की भावना की जड़ें और भी गहरी हैं। इसकी जड़ें अचेतन में होती हैं और चेतन मन में वे लोक-निन्दा के भय के कारण उभरकर नहीं आतीं। सचेतन में कुछ विशेष प्रकार के कार्य पाप माने जाते हैं यद्यपि अन्तरीक्षण करने पर ऐसा समझने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। जब कोई व्यक्ति इस तरह के काम करता है तो वह व्याकुलता अनुभव करता है। इस व्याकुलता का ठीक-ठीक कारण वह स्वयं नहीं जानता। उसके मन में यह इच्छा होती है कि वह ऐसे आचरण से बच सकता, जिसे वह पाप समझता है। नैतिक दृष्टि से वह केवल उनकी प्रशंसा करता है जिन्हें वह पवित्र हृदय समझता है। वह न्यूनाधिक दुःख के साथ स्वीकार करता है कि सन्त बनना उसके भाग्य में नहीं है। वास्तव में उसकी साधुता की संकल्पना कुछ ऐसी है जिसे सामान्य दैनिक जीवन में क्रियान्वित करना प्रायः असम्भव है। परिणामस्वरूप उसे अपने जीवन में एक प्रकार की अपराध भावना निरन्तर सालती रहती है और वह महसूस करता है कि जीवन का परमोत्कर्ष प्राप्त करना उसके भाग्य में नहीं बदा है तथा भावुकता-पूर्ण पश्चात्ताप के क्षण ही उसके जीवन के सबसे भव्य क्षण हैं।

वास्तव में इसका मूल स्रोत प्रायः वह नैतिक शिक्षा होती है, जो व्यक्ति को छह वर्ष की आयु से पहले अपनी माँ या धाय से मिलती है। छह वर्ष का होने से पहले ही वह यह सीख लेता है कि क़सम खाना बुरा

है, नारी-सुलभ भाषा के अतिरिक्त किसी और प्रकार की भाषा का प्रयोग कोई अच्छी बात नहीं है, शराव पीना दुष्ट लोगों का काम है और तम्वाकू का इस्तेमाल उच्चतम कोटि के सदाचार के अनुरूप नहीं है। वह सीख लेता है कि मनुष्य को झूठ कभी नहीं वोलना चाहिए। और इन सबसे अधिक वह यह सीख लेता है कि गुप्तांगों में ज़रा-सी भी दिलचस्पी लेना कुत्सित है। वह जानता है कि ये विचार उसकी माँ के हैं और उसने विश्वास कर लिया है कि यही विचार उसके स्रष्टा के भी हैं। उसके जीवन की सबसे बड़ी खुशी यही थी कि उसकी माँ, या यदि माँ उपेक्षा करती हो तो उसकी धाय उससे स्नेह का बरताव करे और यह खुशी उसे केवल उस समय मिलती थी जब उसने नैतिक नियमों की अवज्ञा करते हुए पाप करना नहीं सीखा था। इसलिए उसे प्रत्येक ऐसे आचरण में, जिसे उसकी माँ या धाय नापसन्द करती हो, एक भीषणता-सी नज़र आने लगती है, यद्यपि उसका स्वरूप बिलकुल स्पष्ट नहीं होता। बड़ा होने पर धीरे-धीरे वह भूल बैठता है कि उसके नैतिक नियमों का उद्गम कहाँ से हुआ था और उनके उल्लंघन का दंड मूलतः क्या था। परन्तु वह इन नैतिक नियमों को अपने मन से निकाल नहीं देता और न ही वह यह सोचना बन्द करता है कि इन नियमों का उल्लंघन करने से उसे किसी भयंकर परिणाम का सामना करना पड़ सकता है।

इस बालोचित नैतिक शिक्षा के अधिकांश की नींव विवेक पर नहीं होती और इसलिए साधारण व्यक्तियों के सामान्य व्यवहार में यह लागू नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति तथाकथित 'गंदी भाषा' का प्रयोग करता है तो वह विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से उस व्यक्ति से किसी भी तरह से बुरा नहीं है, जो 'गन्दी भाषा' का प्रयोग नहीं करता। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी सन्त की कल्पना करते समय क़सम न खाना उसका एक आवश्यक गुण समझेगा। विवेक की दृष्टि से ऐसा समझना बिलकुल मूर्खता है। शराब और तम्बाकू पर भी यही बात लागू होती है। जहाँ तक शराब का सम्बन्ध है, दक्षिणी देशों में उसे बुरा नहीं समझा जाता—

श्रौर निस्संदेह इससे श्रद्धा का अभाव झलकता है—क्योंकि हमें मालूम है कि हमारे प्रभु और धर्मप्रचारक शराब पीते थे। तम्बाकू के विषय में निषेधात्मक दृष्टिकोण रखना अधिक सरल है, क्योंकि जितने भी बड़े सन्त थे उनके युग में इसका चलन नहीं था। परन्तु इस विषय में भी कोई विवेकपूर्ण तर्क देना सम्भव नहीं है। सन्त धूम्र-पान नहीं करते, इस धारणा का विश्लेषण किया जाए तो अन्त में मूल बात यह निकलेगी कि सन्त कोई भी काम केवल खुशी के लिए नहीं करते हैं। सामान्य नैतिकता में त्याग का यह तत्त्व प्रायः अचेतन का अंश बन चुका है, किन्तु वह इतने विविध प्रकार से क्रियाशील होता है कि उसके कारण हमारे नैतिक नियम असंगत बन जाते हैं। विवेकपूर्ण आचार-नीति के अनुसार किसी भी व्यक्ति को, यहाँ तक कि अपने-आपको प्रसन्नता का अवसर देना प्रशंसनीय समझा जायेगा, किन्तु शर्त यह है कि इसमें किसी ऐसी व्यथा को सम्भावना न हो जो अपनी या किसी अन्य व्यक्ति की खुशी को नष्ट कर दे। यदि हम त्याग की भावना से मुक्त होते तो सच्चा सदाचारी व्यक्ति उसे समझते जो सभी अच्छी वस्तुओं का रसास्वादन करने की अनुमति देता हो—और जो उनका आनन्द लेने से केवल तभी मना करता हो जब उनसे किसी ऐसे दुःखदायी फल की आशंका हो, जिसके कारण सारी खुशी ही मिट जाए। अब झूठ बोलने के प्रश्न को लीजिए। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस समय संसार में लोग बहुत झूठ बोलते हैं और ज्यादा सच बोलने से हम अधिक अच्छे मनुष्य बन सकते हैं, किन्तु मैं यह नहीं मानता और कोई भी विवेकशील व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि किसी भी परिस्थिति में झूठ बोलना ठीक नहीं है। एक बार गाँव में टहलते हुए मुझे एक लोमड़ी दिखाई दी जो थककर बेदम हो चुकी थी, किन्तु फिर भी भागने की कोशिश कर रही थी। कुछ मिनट के बाद ही मैंने शिकारियों को देखा। उन्होंने मुझसे लोमड़ी के बारे में पूछा। मैंने सच न बताकर किसी दूसरी ओर इशारा कर दिया। यदि मैंने सच कह दिया होता तो इससे मैं अच्छा मनुष्य नहीं बन जाता।

बचपन की नैतिक शिक्षा सबसे अधिक हानि सेक्स के क्षेत्र में पहुँचाती है। यदि किसी बालक को सख्त माँ-बाप या धाय से पुराने ढंग की शिक्षा मिली हो तो छः वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसके मन में पाप और गुप्ताङ्गों का इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि आजीवन उसका प्रभाव पूरी तरह नहीं मिट सकता। यह भावना ईडिपस ग्रन्थि से और भी पुष्ट हो जाती है, क्योंकि शैशवावस्था में जिस स्त्री से सबसे अधिक प्रेम होता है उससे सब प्रकार के यौन सम्बन्ध असम्भव हैं। इसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोगों के मन में यह भावना जम जाती है कि सेक्स से स्त्रियों में गिरावट आती है। ये लोग अपनी पत्नी को तब तक सम्मान की दृष्टि से नहीं देख सकते जब तक कि वह सम्भोग से घृणा न करती हो। परन्तु जिस व्यक्ति की पत्नी में कामोत्साह का अभाव होगा उसे अपनी सहज वृत्ति की तृप्ति के लिए कहीं और जाना पड़ेगा। उसकी सहज वृत्ति की क्षणिक तृप्ति हो भी जाए तो भी अपराध-भावना इसे विषाक्त कर देगी। परिणामस्वरूप किसी भी स्त्री से उसके सम्बन्ध, चाहे वह उसकी पत्नी से हों या किसी और स्त्री से हों, उसके लिए सुखदायी नहीं हो सकते। जिस स्त्री को सतीत्व की शिक्षा मिली हो उसके साथ भी यही बात है। वह सहज ही पति के साथ यौन सम्बन्ध रखने में बहुत झिझकती है और उनसे आनन्द लेते हुए उसे डर लगता है। परन्तु पचास वर्ष पहले की अपेक्षा अब स्त्रियों में यह बात बहुत कम मिलती है। इस समय शिक्षित वर्ग के पुरुषों का यौन जीवन स्त्रियों की अपेक्षा अधिक विकृत और पाप-भावना से अधिक दूषित है।

बचपन में जो परम्परागत यौन शिक्षा दी जाती है उसके दुष्परिणामों को अब बहुत लोग समझने लगे हैं, यद्यपि राजकीय अधिकारियों को अभी तक उनका बोध नहीं है। इस सम्बन्ध में जो नियम सही हो सकता है वह बहुत सरल है। जब तक लड़का या लड़की तरुणाई न प्राप्त कर ले तब तक उसे सेक्स-सम्बन्धी कोई भी नैतिक शिक्षा नहीं दी

जानी चाहिए और इस बारे में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए कि उसके मन में यह बात न जम जाए कि प्रकृत शारीरिक क्रियाएँ किसी भी प्रकार से विरक्तिकर हो सकती हैं। जब नैतिक शिक्षा देना आवश्यक समझा जाए तो इस बात का पूरा खयाल रखना चाहिए कि यह शिक्षा विवेक-संगत हो और जो बात भी बतायी जाय उसके लिए उचित आधार भी उपस्थित किया जा सके। परन्तु इस पुस्तक में शिक्षा के बारे में कुछ कहना मेरा प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो मैं यही बताना चाहता हूँ कि नासमझी की शिक्षा के कारण जो विवेकहीन पाप-भावना उत्पन्न होती है उसके दुष्परिणामों को कम करने के लिए वयस्क क्या कर सकते हैं।

इस समय हमारे सामने जो समस्या है उसका सामना हम पिछले अध्यायों में भी कर चुके हैं। यह समस्या उन विवेकसंगत विश्वासों की ओर अचेतन का ध्यान आकृष्ट करने की समस्या है, जो हमारे सचेतन चिन्तन को नियन्त्रित करते हैं। मनुष्य को अपनी मनोदशा के प्रवाह में इस प्रकार वह नहीं जाना चाहिए कि एक क्षण में उसका विश्वास कुछ हो और दूसरे क्षण में कुछ। पाप की भावना ऐसे क्षणों में विशेष रूप से प्रकट होती है जब थकान, रोग या शराब पीने के कारण अथवा किसी और कारण से मनुष्य की सजग इच्छा-शक्ति शिथिल हो गयी हो। (नशे की हालत को छोड़कर) ऐसे क्षणों में मनुष्य के मन में जो विचार उठते हैं उन्हें उसके उच्चतर आत्म-रक्ष की वाणी समझा जाता है। "शैतान बीमार है, वह सन्त हो जाएगा।" परन्तु यह सोचना बहुत बड़ी मूर्खता है कि दुर्बलता के क्षणों में मनुष्य की अन्तःदृष्टि सबलता के क्षणों की अपेक्षा अधिक प्रखर होती है। दुर्बलता के क्षणों में बालोचित उद्भावनाओं का संवरण कठिन होता है, परन्तु वयस्क व्यक्ति की शक्तियों के पूर्णतः जागरूक होने की स्थिति में उसके जो विश्वास होते हैं, उनसे इन उद्भावनाओं को अच्छा समझने का कोई कारण नहीं है। इसके विपरीत, मनुष्य स्वस्थ अवस्था में सम्पूर्ण विवेक से सोच-समझकर जो विश्वास करता है वही हमेशा उसके विश्वासों का

आधार होना चाहिए। उचित तरीके से काम लिया जाए तो अचेतन के बालोचित विचारों को वस में किया ही जा सकता है, साथ ही अचेतन के संस्कारों को भी बदला जा सकता है। जब कभी आप मन में किसी ऐसे आचरण के लिए आत्म-ग्लानि अनुभव करें जिसे आपका विवेक बुरा नहीं समझता हो, तो आत्म-ग्लानि की भावना के कारणों की जाँच कीजिए और अपने मन को पूरी तरह विश्वास दिलाइए कि वे कारण असंगत हैं। आपके सचेतन विश्वास इतने स्पष्ट और प्रबल होने चाहिए कि वे अचेतन पर प्रभाव डाल सकें और इस प्रभाव में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि शैशवावस्था में आपकी धाय या माँ अचेतन पर जो प्रभाव डाल चुकी है उसका वह मुक़ाबला कर सके। आपको इससे सन्तोष न होना चाहिए कि कभी तो आप सविवेक हों और कभी विवेकहीनता आप पर हावी हो जाए। असंगति पर अच्छी तरह विचार कीजिए और इस संकल्प के साथ विचार कीजिए कि आप उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखेंगे और उससे अपने-आपको अभिभूत न होने देंगे। जब कभी उसके कारण आपकी चेतना में मूर्खतापूर्ण विचार या भावनाएँ पैदा हों, तो जड़ से उखाड़कर उनकी परीक्षा कीजिए और उन्हें अस्वीकार कर दीजिए। अपने-आपको ऐसा ढुल-मुल व्यक्ति न होने दीजिए जो कुछ हद तक तो विवेक के साथ चलता हो और कुछ हद तक बालोचित मूर्खता के साथ। जिनके हाथों में आपके बचपन की बागडोर थी उनकी स्मृति के प्रति असम्मान की भावना से न डरिए। उन्हें आप बचपन में शक्तिशाली और बुद्धिमान् इसलिए समझते थे कि आप दुर्बल और मूर्ख थे। अब आप न तो दुर्बल हैं और न मूर्ख, इसलिए उनमें जो शक्ति और बुद्धिमत्ता आपको दिखाई देती है उसकी परीक्षा करना आपका काम है। और आप यह भी सोचिए कि आप जो सम्मान अभ्यासवश उन्हें अब देते रहे हैं उसकी वे वास्तव में अधिकारिणी हैं भी या नहीं। गम्भीरता के साथ अपने मन से पूछिए कि बच्चों को जो परम्परागत नैतिक शिक्षा दी जाती है क्या उससे दुनिया में कुछ सुधार हुआ

है। जरा सोचिए कि पारम्परिक रूप में स्वीकार किए जाने वाले सदाचारी के व्यक्तित्व का निर्माण कितने घोर अन्धविश्वासों के योग से होता है और सोचिए कि अविश्वसनीय मूर्खतापूर्ण वर्जनाओं के द्वारा काल्पनिक नैतिक खतरों से बचाने का तो प्रयत्न किया जाता है किन्तु वयस्क व्यक्ति वास्तव में जिस नैतिक पतन का शिकार हो सकता है, उसकी ओर संकेत भी नहीं किया जाता। वास्तव में ऐसे हानिकर कार्य कौनसे हैं जिन्हें करने का साधारण व्यक्ति को लोभ होता है। व्यापार में ऐसी धूर्तता, जिसके लिए क़ानून कोई दंड न दे सकता हो, अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ कठोरता का व्यवहार, पत्नी और सन्तान से क्रूरता का बरताव, प्रतियोगियों के प्रति द्वेष, राजनीतिक संघर्ष में हिंसा—वास्तव में ये पाप हैं, जिनसे सचमुच हानि पहुँचती है और जो आदरणीय तथा सम्मानित नागरिकों में पाए जाते हैं। इन पापों के द्वारा व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द के लोगों को दुःखी करता है और वह सभ्यता को नष्ट करने में भी सहायक होता है। परन्तु बीमारी की अवस्था में इन पापों के कारण उसके मन में यह भावना जागृत नहीं होती कि वह एक परित्यक्त व्यक्ति है, जो ईश्वर की कृपा पाने का अधिकारी नहीं रहा। रात के दुःस्वप्नों में जब उसकी माँ उसे धिक्कार-भरी नज़रों से देखती है तो इसका कारण भी उक्त पाप नहीं होते। उसके अचेतन की नैतिकता इतनी विवेकहीन क्यों है? इसलिए कि शैशव में जिन पर उसके पालन-पोषण का भार था उनकी नैतिक धारणाएं मूर्खतापूर्ण थीं, इसलिए कि समुदाय के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्यों के ज्ञान से वे उद्भूत नहीं हुई थीं, इसलिए कि असंगत वर्जनाओं के जीर्ण अंशों से उसका निर्माण हुआ था और इसलिए कि स्वयं उसमें रुग्णता के ऐसे तत्त्व निहित थे, जिनका उद्भव मरते हुए रोम साम्राज्य को पीड़ित रखने वाली आध्यात्मिक व्याधि से हुआ था। हममें नाम-मात्र की जो नैतिकता है उसका विधान पुरोहितों और दास मनोवृत्ति की स्त्रियों द्वारा हुआ था। अब वक़्त आ गया है कि जो लोग संसार के प्रकृत जीवन में प्रकृत रूप से भाग लेना

चाहते हैं उन्हें इस रुग्ण विमूढ़ता के विरुद्ध विद्रोह करना सीखना होगा।

परन्तु किसी व्यक्ति को सुखी बनाने और उसे इस योग्य बनाने में कि वह निरन्तर एक ही मान-दण्ड के अनुसार जीवन-यापन करता रहे और दो मान-दण्डों के बीच लुढ़कता न फिरे, यह विद्रोह तभी सफल हो सकता है, जब व्यक्ति बुद्धि के निर्देशों पर गम्भीरता से विचार करे और उन्हें अनुभव करे। अधिकांश लोग शैशव-काल के अंधविश्वासों को बाह्यतः ठुकरा देने के बाद समझ लेते हैं कि अब उन्हें इससे अधिक कुछ नहीं करना है। वे नहीं जानते कि ये अंधविश्वास अभी तक अचेतन में छिपे हुए हैं। जब आप विवेक द्वारा कोई प्रत्यय ग्रहण करें तो आपको चाहिए कि उस पर खूब अच्छी तरह विचार करें, उसके परिणामों पर ध्यान रखें, अपने मन को टटोलकर देखें कि वहाँ कोई ऐसी धारणा तो नहीं छिपी बैठी है जो इस नए प्रत्यय से मेल नहीं खाती। और यदि कभी मन में पाप की प्रबल भावना उत्पन्न हो—जैसी कि समय-समय पर उत्पन्न हुआ करेगी—तो जब तक कि उसके मूल में कोई ऐसा कर्म न हो, जिसे विवेकसंगत आचार-नीति बुरा समझती हो, तब तक उसे ईश्वर की वाणी और उच्चतर भूमि की ओर आह्वान न समझना चाहिए, बल्कि उसे एक तरह की बीमारी और कमज़ोरी समझना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य में नैतिकता होनी ही नहीं चाहिए। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि मनुष्य को अन्धविश्वास-जन्य नैतिकता से, जो एक बिलकुल भिन्न वस्तु है, मुक्त होना चाहिए।

परन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी ही विवेकपूर्ण आचार-नीति का उल्लंघन करता है तो भी मुझे सन्देह है कि पाप-भावना अधिक अच्छी जीवन-प्रणाली ढूँढ़ निकालने का सबसे अच्छा उपाय हो सकती है। पाप की भावना में हीनत्व के तत्त्व विद्यमान हैं और उसमें आत्म-सम्मान का अभाव है। आत्म-सम्मान खो देने से मनुष्य का कभी कल्याण नहीं होता। विवेकशील व्यक्ति दूसरे लोगों के अवांछनीय कार्यों की तरह अपने कार्यों को भी परिस्थितियों का परिणाम समझेगा। उसकी दृष्टि

में ऐसे कार्यों से बचने के दो ही उपाय होंगे : उनकी अवांछनीयता के पूर्णतर बोध के द्वारा अथवा यदि सम्भव हो तो उन परिस्थितियों के निवारण द्वारा जिनसे इन कार्यों की प्रेरणा मिली हो।

पाप की भावना का एक अच्छे जीवन का आधार होने की बात तो दूर रही, वास्तव में स्थिति उलटी ही है। यह मनुष्य को दुःखी कर देती है और इसके कारण वह अपने-आपको हीन समझने लगता है। दुःखी होने के कारण वह दूसरे लोगों से बहुत अधिक आशाएँ करने लगता है और ये आशाएँ व्यक्तिगत सम्बन्धों के सुखास्वादन में बाधक होती हैं। हीनता की भावना के कारण उसे उन लोगों पर रोष आएगा जो उससे अधिक अच्छे दिखाई देंगे। दूसरे लोगों की प्रशंसा करना उसके लिए कठिन होगा और ईर्ष्या करना आसान। सामान्य रूप से लोग उसे पसन्द नहीं करेंगे और वह अपने-आपको अधिकाधिक अकेला महसूस करेगा। दूसरे लोगों के प्रति हार्दिक और उदारता की वृत्ति से दूसरों को ही सुख नहीं मिलता, स्वयं उस व्यक्ति के लिए भी वह अपार सुख का स्रोत होती है, क्योंकि इसके कारण सामान्य रूप से लोग उसे पसन्द करते हैं। परन्तु पाप-भावना से आक्रांत व्यक्ति के लिए इस प्रकार की वृत्ति शायद ही सम्भव हो। यह मनोवृत्ति सन्तुलित स्वभाव और स्वावलम्बन से उत्पन्न होती है। इसके लिए मानसिक अखण्डता की आवश्यकता होती है। मानसिक अखण्डता से मेरा आशय यह है कि मानव स्वभाव के विभिन्न स्तर, चेतन, अवचेतन और अचेतन एकता के सूत्र में बँधे होते हैं और वे निरन्तर एक-दूसरे से युद्ध नहीं करते रहते। अधिकांशतः इस प्रकार का सामंजस्य विवेकपूर्ण शिक्षा द्वारा सम्भव है, किन्तु जिन लोगों को विवेकपूर्ण ढंग से शिक्षा नहीं मिल सकी है उनके लिए यह प्रक्रिया अधिक कठिन है। मनोविश्लेषक इसी प्रक्रिया की सहायता लेते हैं, किन्तु मेरा विश्वास है कि बहुत-से रोगी यह काम स्वयं कर सकते हैं जिसके लिए अधिक गम्भीर स्थितियों में विशेषज्ञ की सहायता आवश्यक होती है। यह न कहिए, "मेरे पास ऐसे मनोवैज्ञानिक श्रम के

लिए समय नहीं है, मैं बहुत व्यस्त रहता हूँ, जीवन में बहुत-से काम लगे रहते हैं; और मुझे अपने अचेतन को उसके हाल पर ही छोड़ देना चाहिए।" खण्डित व्यक्तित्व सुख और क्षमता की जितनी हानि करता है उतनी हानि कोई और चीज़ नहीं करती। व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों में सामंजस्य लाने के लिए जो समय दिया जाए, वह समय का सदुपयोग होगा। मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य को प्रति दिन एक घण्टा आत्म-निरीक्षण के लिए नियत कर देना चाहिए। मेरी दृष्टि में यह तरीका किसी भी प्रकार से सर्वोत्तम नहीं है, क्योंकि इससे अपने-आपमें लिप्त रहने की वृत्ति बढ़ती है। यह वृत्ति उस रोग का ही एक अंश है जिससे मुक्ति पाने का प्रयत्न किया जा रहा है, क्योंकि समंजस व्यक्तित्व की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है। मेरा तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपने मन में दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लेना चाहिए कि विवेकपूर्ण ढंग से वह किन बातों पर विश्वास करता है और इनसे भिन्न विवेकरहित विचारों पर एक क्षण के लिए भी उसे न तो विश्वास करना चाहिए और न ही उनसे प्रभावित होना चाहिए। प्रश्न अपने-आपको ऐसे क्षणों में तर्क द्वारा सन्तुष्ट करने का है, जब आपमें बालोचित मनोवृत्ति पैदा हो रही हो, किन्तु यदि यह क्रिया पर्याप्त रूप से प्रबल हो तो बहुत थोड़ा समय लेगी।

बहुत-से लोग विवेकसंगत जीवन-दर्शन को पसन्द नहीं करते और ऐसे लोगों को मेरी बातें असंगत और महत्त्वहीन लगेंगी। कुछ लोगों का विचार है कि यदि विवेक को निरंकुश छोड़ दिया जाए तो वह सभी गहरी भावनाओं को कुचल डालेगा। मेरी दृष्टि में यह धारणा मानव-जीवन में बुद्धि के कार्य की ऐसी संकल्पना पर आधारित है जिसमें कुछ भी सत्यता नहीं है। बुद्धि का यह काम नहीं है कि वह भावनाएँ उत्पन्न करे, यद्यपि ऐसी भावनाओं के संवरण की विधियाँ मालूम करना उसका एक कार्य हो सकता है जो कल्याण में बाधक होती हों। इसमें सन्देह नहीं कि विवेकसंगत मनोविज्ञान का एक कार्य यह भी है कि घृणा और

ईर्ष्या को कम करने के तरीके मालूम किए जाएँ। परन्तु यह मान लेना ग़लत है कि इन वासनाओं को कम करने से उन वासनाओं की शक्ति भी कम हो जाएगी, जिनको बुद्धि नहीं समझती। गहरा प्रेम, माता-पिता का स्नेह, मित्रता, उपकार-भावना, विज्ञान या कला के प्रति अनुराग—इनमें से किसी को भी बुद्धि कम करना नहीं चाहेगी। विवेकशील व्यक्ति के मन में ये या इनमें से कोई भावना उत्पन्न होगी तो उसे प्रसन्नता होगी और वह उनकी तीव्रता को कम करने की कोशिश नहीं करेगा, क्योंकि ये सभी भावनाएँ एक अच्छे जीवन का अंश हैं—ऐसे जीवन का जो स्वयं उसके लिए भी सुखदायी है और दूसरों के लिए भी। वासनाओं में अपने-आपमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं होता जिसे हम विवेकरहित कह सकें और बहुत-से विवेकहीन लोग जिन वासनाओं का अनुभव करते हैं उनमें कोई गहराई नहीं होती। किसी भी व्यक्ति को यह भय नहीं होना चाहिए कि विवेकशील होने से उसका जीवन नीरस हो जाएगा। इसके विपरीत चूँकि विवेकशीलता मुख्यतः आन्तरिक सामंजस्य का ही एक रूप है, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा, जिसे अपने आन्तरिक संघर्ष के कारण हमेशा बाधाओं का सामना करना पड़ता है, विवेकशील व्यक्ति विश्व के बारे में अधिक स्वच्छन्दता के साथ सोच सकता है और बाह्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग अधिक निर्बाध रूप से कर सकता है। अहम् में परिबद्ध हो जाने से जीवन जितना नीरस हो जाता है उतना किसी और चीज़ से नहीं होता। अपने ध्यान और शक्ति को बाह्य दिशा में केन्द्रित रखने से जितना उल्लास मिलता है उतना किसी और प्रकार से सम्भव नहीं है।

हमारी परम्परागत नैतिकता बहुत ज़्यादा आत्म-केन्द्रित रही है और पाप की संकल्पना आत्म-केन्द्रित रहने की इसी मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति का एक अंश है। जो लोग इस सदोष नैतिकता के प्रभाव में आकर आत्मपरक मनोदशा के कभी शिकार नहीं हुए हैं उनके लिए बुद्धि अनावश्यक हो सकती है। परन्तु जिन्हें यह रोग एक बार हो चुका है

उनको इस रोग से मुक्त करने के लिए बुद्धि आवश्यक है और शायद रुग्णता मानसिक विकास की एक आवश्यक अवस्था है। मेरे विचार में जो व्यक्ति बुद्धि की सहायता से इस अवस्था को पार कर चुका है वह उस व्यक्ति से कहीं ऊँचे धरातल पर पहुँच चुका है जिसे न तो रोग का अनुभव है और न ही स्वास्थ्य-लाभ का। हमारे युग में बुद्धि के प्रति सामान्य घृणा का बहुत बड़ा कारण यह है कि लोगों को बुद्धि की क्रियाओं के मूल तत्त्वों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। जिस आदमी का व्यक्तित्व खण्डित होता है वह उत्तेजना और ऐसी चीज़ों का अभिलाषी रहता है, जिनसे उसका ध्यान बँट सके। उसे प्रबल वासनाएँ बहुत अच्छी लगती हैं—इसलिए नहीं कि उनमें कोई गुण है, बल्कि इसलिए कि वह उनके कारण एक क्षण के लिए अपने-आपको भूल जाता है और अपने बारे में सोचने के कष्ट से बच जाता है। प्रत्येक वासना उसके लिए एक प्रकार का नशा है और चूँकि वह सच्चे सुख की संकल्पना नहीं कर सकता, इसलिए व्यथा से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय उसे नशे में ही दिखाई देता है। परन्तु यह एक बद्ध-मूल व्याधि का लक्षण है। जो इस प्रकार की व्याधि से पीड़ित नहीं है, उसे जीवन का परम सुख तब मिलता है जब उसकी शक्तियाँ पूर्णतः सजग होती हैं। जिन क्षणों में मन बहुत सक्रिय रहता है और विस्मृति की प्रवृत्ति कम-से-कम होती है, उन्हीं क्षणों में परम आह्लाद की अनुभूति होती है। निस्संदेह यह सुख की बहुत अच्छी कसौटी है। जिस सुख में किसी भी प्रकार के नशे की आवश्यकता होती हो, वह सच्चा सुख नहीं है और उससे तृप्ति नहीं मिल सकती। जो सुख वास्तव में तृप्ति दे सकता है उसकी अनुभूति अपनी शक्तियों के पूर्णतम उपयोग और अपने संसार के सम्पूर्ण बोध के साथ ही सम्भव है।

आठवाँ अध्याय

उत्पीड़न-उन्माद

अपने आत्यन्तिक रूपों में उत्पीड़न-उन्माद को एक प्रकार का पागलपन माना जाता है। कुछ लोग सोच लेते हैं कि दूसरे लोग उन्हें मार डालना, क़ैद करवाना या कोई और भारी हानि पहुँचाना चाहते हैं। कल्पित उत्पीड़कों से अपनी रक्षा करने की इच्छा के फलस्वरूप वे बहुधा ऐसे हिंसात्मक कार्य करने लगते हैं कि उनकी स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है। दूसरे पागलपनों की तरह यह भी एक विशेष वृत्ति का अतिरेक मात्र है, जो बहुत-से सामान्य व्यक्तियों में भी मिलती है। मैं यहाँ आत्यन्तिक रूपों की चर्चा करना नहीं चाहता, क्योंकि यह मनोचिकित्सक का विषय है। मैं इस प्रकार के उन्माद के साधारण रूपों की चर्चा करना चाहता हूँ, क्योंकि ये अक्सर दुःख का कारण होते हैं और चूँकि ये अभी तक पागलपन की निश्चित सीमा पर नहीं पहुँचे, इसलिए रोगी स्वयं अपने प्रयत्नों से उनसे मुक्ति पा सकता है, बशर्ते कि उसे रोग का सही निदान करने की प्रेरणा दी जाए और उसे बताया जाए कि रोग का कारण दूसरों की कल्पित शत्रुता या निष्ठुरता नहीं है, बल्कि स्वयं वह है।

हम सब लोग किसी-न-किसी ऐसे पुरुष या स्त्री से परिचित हैं जो अपने कहने के अनुसार निरन्तर कृतघ्नता, निष्ठुरता और विश्वासघात का सामना करता रहता है। इस प्रकार के लोग बहुधा असाधारण रूप से सत्य का आभास देते हैं और जो लोग उन्हें बहुत दिनों से नहीं जानते उनकी गहरी सहानुभूति उन्हें प्राप्त हो जाती है। ये लोग जो कहानियाँ

सुनाते हैं उनमें से प्रत्येक अलग कहानी साधारणतः अविश्वसनीय नहीं होती। वे जिस प्रकार के दुर्व्यवहार की शिकायत करते हैं वह भी निस्संदेह कभी-कभी होता है। अन्त में सुनने वाले के मन में जिस बात से सन्देह जागता है वह है ऐसे शत्रुओं की अत्यधिक संख्या, जो इन पीड़ितों को ही दुर्भाग्यवश मिलते रहे हैं। सम्भाव्यता-सिद्धान्त के अनुसार किसी समाज के विभिन्न व्यक्तियों को पूरे जीवन में इसी मात्रा में दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ सकता है। यदि किसी व्यक्ति को उसके कथनानुसार सब लोगों के दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ता है तो सम्भावना यही है कि इसका कारण स्वयं वह है और या तो वह ऐसी क्षतियों की कल्पना कर लेता है, जो वास्तव में उसने उठायी नहीं हैं, या फिर वह अचेतन रूप से ऐसा व्यवहार करता है कि लोग अनायास ही उस पर झुँझला उठते हैं। इसीलिए जो लोग अपने-आपको संसार-भर का सताया हुआ बताते हैं, उन्हें अनुभवी लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। इनकी सहानुभूति न मिलने से इन अभागों की यह धारणा और पुष्ट हो जाती है कि सभी लोग उनके विरोधी हैं। वास्तव में इस आफ़त से निपटने में बहुत कठिनाई होती है क्योंकि सहानुभूति मिलने या न मिलने दोनों ही तरह से इसमें समान रूप से वृद्धि होती है। उत्पीड़न-उन्माद की वृत्ति वाला व्यक्ति जब देखता है कि उसके दुर्भाग्य की कहानी पर विश्वास किया जा रहा है तो वह उसे और नमक-मिर्च लगाकर सुनाता है, यहाँ तक कि वह विश्वसनीयता की अन्तिम सीमा को छू लेता है। इसके विपरीत जब वह देखता है कि लोग उसकी कहानी पर विश्वास नहीं करते तो उसे अपने प्रति मानव जाति की विशिष्ट निर्ममता का एक और उदाहरण मिल जाता है। इस रोग के उपचार के लिए सद्भावना बहुत आवश्यक है और इसमें सफलता तभी मिल सकती है जब कि यह सद्भावना रोगी पर भी प्रकट हो जाए। इस अध्याय में मैं कुछ ऐसे सामान्य उपाय सुझाना चाहता हूँ जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति उत्पीड़न-उन्माद (जो थोड़ी या अधिक मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति में मिलता है) के

अंश का पता चलाया जा सकता है और पता चला लेने के बाद उससे मुक्ति पाई जा सकती है। सुख पर विजय प्राप्त करने के लिए यह बहुत आवश्यक है, क्योंकि जब तक हमारी यह भावना रहेगी कि प्रत्येक व्यक्ति हमसे बुरा व्यवहार करता है, तब तक हमारे लिए सुखी रहना असम्भव है।

विवेकहीनता का एक सर्वव्यापी रूप उस अभिवृत्ति में मिलता है, जो द्वेषपूर्ण गपाष्टक लगाने के रूप में प्रायः सभी लोगों के मन में होती है। बहुत कम लोग अपने परिचितों के सम्बन्ध में—और कभी-कभी अपने मित्रों के सम्बन्ध में भी—द्वेषपूर्ण बातें करने से अपने-आपको रोक सकते हैं। फिर भी जब लोग सुनते हैं कि उनके विरुद्ध किसी ने कोई बात कही है तो उन्हें बहुत क्रोध और आश्चर्य होता है। उन्होंने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि जैसे वे दूसरों को लक्ष्य बनाकर गप्प हाँकते रहते हैं, ठीक उसी तरह दूसरे भी उनके बारे में गप्पें हाँक सकते हैं। यह उस अभिवृत्ति का एक साधारण रूप है जो बढ़ जाने पर उत्पीड़न-उन्माद में परिवर्तित हो जाती है। हम आशा करते हैं कि दूसरों के मन में हमारे प्रति वैसा ही सुकोमल प्रेम-भाव और गहरा सम्मान का भाव हो जैसा कि अपने प्रति हमारे मन में रहता है। हमारे मन में कभी यह बात नहीं आती कि हम दूसरों को जैसा समझते हैं वैसा ही वे भी हमें समझते हैं और उनसे यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि वे हमें ज्यादा अच्छा समझेंगे। और ऐसा समझने का कारण यही है कि हमारे अपने गुण महान् और सुस्पष्ट हैं, जब कि दूसरों के गुणों को, यदि वे उनमें हों तो कोई उदार दृष्टि ही देख सकती है। जब आप सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति ने आपके सम्बन्ध में कोई आपत्तिजनक बात कही है तो आपको वे निन्यानवे अवसर तो याद रहते हैं तब आपने उसकी न्याय-संगत और उचित आलोचना करने से अपने-आपको रोके रखा था, पर आप उस सौवें अवसर को भूल जाते हैं जब आपने उसके सम्बन्ध में अपने विश्वास के अनुसार असली विचार प्रकट कर दिए थे। आप मन

में सोचने लगते हैं—क्या मेरी सहनशीलता का यही फल है ? परन्तु उसके दृष्टिकोण से आपका आचरण ठीक वैसा ही है, जैसा कि उसका आचरण आपकी दृष्टि में है। वह यह नहीं जानता कि आपने कब उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा। वह तो केवल उस अवसर के बारे में जानता है जब आपने उसके खिलाफ़ कहा। यदि किसी जादू के द्वारा हमें एक-दूसरे के विचारों को जान लेने की शक्ति प्राप्त होती तो इसका सबसे पहला परिणाम यह होता कि सब लोगों की मित्रता के सम्बन्ध टूट जाते। किन्तु इसका दूसरा परिणाम बहुत अच्छा होता। ऐसा संसार, जिसमें कोई किसी का मित्र न हो, असह्य अनुभव होता, और हम लोग एक-दूसरे को पसन्द करना सीख जाते और अपने-आपसे यह छिपाने के लिए कि हम लोग एक-दूसरे को सर्वथा दोष-रहित नहीं समझते, भ्रम के आवरण की आवश्यकता भी नहीं होती। हम लोग जानते हैं कि हमारे मित्रों में कुछ दोष हैं, फिर भी वे हमें अच्छे लगते हैं। परन्तु वे भी हमारे सम्बन्ध में ऐसा ही सोचें, यह हमारे लिए असह्य है। हम उनसे यह आशा करते हैं कि वे हमें दूसरे सभी मनुष्यों से भिन्न अर्थात् सर्वथा दोष-मुक्त समझें। जब हम लोगों को यह स्वीकार करने पर बाध्य किया जाता है कि हममें भी दोष हैं तो इस सुस्पष्ट तथ्य को हम लोग अत्यधिक गम्भीर बना देते हैं। किसी भी व्यक्ति को अपने-आपको दोष-रहित नहीं समझना चाहिए और न ही यह सोचकर बहुत चिन्तित होना चाहिए कि वह दोष-रहित नहीं है।

उत्पीड़न-उन्माद का मूल सदा ही अपने गुणों को बहुत बढ़ाकर आँकने में निहित रहता है। उदाहरणस्वरूप मैं एक नाटककार हूँ। प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति को मुझे युग का सर्वोत्कृष्ट नाटककार समझना ही चाहिए। फिर भी किसी-न-किसी कारण से मेरे नाटक कभी-कभी ही मंच पर खेले जाते हैं और जब वे अभिनीत होते हैं तो सफल नहीं होते। इस विचित्र स्थिति का क्या कारण है ? स्पष्ट ही है कि प्रबन्धक, अभिनेता और समालोचक सब किसी-न-किसी कारण मिलकर मेरा

विरोध कर रहे हैं। और इस विरोध का जो कारण है उससे मेरी महत्ता ही प्रकट होती है : मैंने रंगमंच के बड़े लोगों के सामने नाक नहीं रगड़ी, मैंने समालोचकों की चापलूसी नहीं की, मेरे नाटकों में ठीक लक्ष्य पर बैठने वाली ऐसी सचाई है कि जिन लोगों को उससे चोट पहुंचती है उनके लिए वह असह्य है। और इसलिए मेरी अत्युत्कृष्ट योग्यता मान्यता न मिलने के कारण शिथिल हो रही है ।

इसी प्रकार एक ऐसे आविष्कर्ता को लीजिए जिसके आविष्कार के गुणों को समझने का किसी ने भी प्रयास नहीं किया। विनिर्माता अपने ढर्रे पर लगे हुए हैं और वे किसी प्रकार की नवीनता पर ध्यान देना नहीं चाहते। जो थोड़े-बहुत प्रगतिशील निर्माता हैं उनके पास अपने-अपने आविष्कारकर्ता हैं और ये किसी ऐसे व्यक्ति को प्रवेश नहीं करने देते जिसकी प्रतिभा को अभी मान्यता नहीं मिली। विचित्र बात है कि विद्वानों की समितियां पांडुलिपियों को खो देती हैं या उन्हें बिना पढ़े ही लौटा देती हैं। कुछ व्यक्तियों से यदि इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जाए तो वे भी कोई रुचि नहीं दिखाते। इस स्थिति का क्या कारण है? इसका कारण यही है कि ऐसे लोगों ने, जो आविष्कार से प्राप्त होने वाले सम्मान को आपस में ही बांट लेना चाहते हैं, एक गुट बना रखा है। जो व्यक्ति इस गुट में सम्मिलित नहीं है उसकी बात नहीं सुनी जाती ।

फिर ऐसा व्यक्ति भी है जिसकी शिकायत में सत्य का अंश भी है। परन्तु वह अपने अनुभव के आधार पर इसे सामान्य नियम का रूप दे देता है और यह निष्कर्ष ग्रहण कर लेता है कि उसका दुर्भाग्य ही दुनिया को समझने का आधार है। उदाहरण के लिए उसे सीक्रेट सर्विस (गुप्त चर्या विभाग) के सम्बन्ध में कोई ऐसी बदनामी की बात मालूम होती है जिसे सरकार अपने हित की दृष्टि से छिपाना चाहती है। उसे इस रहस्योद्घाटन से कोई ख्याति नहीं मिलती और अत्यधिक उदार दिखाई देने वाले व्यक्ति भी इस बुराई को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न करने

से इन्कार कर देते हैं। यह देखकर उसका मन क्रोध और घृणा से भर जाता है। यहाँ तक की बातें तो उसके कथनानुसार तथ्य थीं, परन्तु फटकार और झिड़कियों के प्रभाव से वह यह विश्वास कर बैठता है कि सभी शक्तिशाली लोग अपने उन अपराधों को छिपाने में लगे रहते हैं जिनके कारण उन्हें शक्ति मिली है। इस प्रकार के व्यक्तियों की धारणा आंशिक रूप से सत्य होती है और इसके कारण उनमें एक प्रकार का हठ आ जाता है। जिस चीज को उन्होंने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किया है, उसने स्वभावतः ही ऐसे बहुत-से विषयों की अपेक्षा, जिनका उन्हें कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उनके मन पर अधिक प्रभाव डाला है। इससे उनमें उचित समानुपात-बोध नहीं होता और वे ऐसी बातों को बहुत अधिक महत्त्व देने लगते हैं, जो सम्भवतः अपवाद होती हैं, सामान्य नहीं होती।

उत्पीड़न-उन्माद का एक और सामान्य उदाहरण विशेष प्रकार के लोकोपकारी व्यक्तियों में मिलता है, जो लोगों की इच्छा के विरुद्ध उनका उपकार करने में लगे रहते हैं और जिन्हें यह देखकर बहुत आश्चर्य और दुःख होता है कि लोग इस उपकार के लिए कृतज्ञता प्रकट नहीं करते। हम जब उपकार करते हैं तो हमारा प्रयोजन शायद ही कभी इतना स्वार्थरहित होता हो जितना कि हम समझ लेते हैं। शक्ति का मोह बहुत गुप्त रूप से काम करता है। इसके कई चेहरे होते हैं और अपने विचार में हम अपने जिस कार्य को परोपकार समझते हैं, उससे मिलने वाले आनन्द का स्रोत अक्सर यही मोह होता है। इसके अतिरिक्त, बहुधा एक और तत्त्व भी इसमें आ जाता है। लोगों का 'उपकार' करने का सामान्य रूप से अर्थ है उनकी किसी-न-किसी खुशी को छीन लेना जैसे शराब पीने, जुआ खेलने या समय नष्ट करने की खुशी को। इसमें हमारी सामाजिक नैतिकता की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता मिलती है और वह है उन लोगों के प्रति ईर्ष्या का भाव जो पाप करने की स्थिति में होते हैं। और जिससे हमें इसीलिए बचना पड़ता है ताकि हमारे मित्र हमारा

सम्मान करते रहें। उदाहरणस्वरूप जो लोग सिगरेट पीने की मनाही के लिए क़ानून (कई अमरीकी राज्यों में इस प्रकार के क़ानून हैं या थे) बनाने का समर्थन करते हैं, वे सिगरेट न पीने वाले लोग हैं, जिन्हें दूसरों को तम्बाकू से मिलने वाली खुशी ही क्लेश का कारण लगती है। यदि ये लोग यह आशा करते हैं कि वे लोग, जिन्हें पहले सिगरेट की लत लगी हुई थी, उनके पास आयेंगे और इस निंदनीय बुराई से उनका उद्धार करने के लिए धन्यवाद देंगे, तो इन्हें निराशा ही हो सकती है। ये लोग सोच सकते हैं कि लोकहित के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया है और जिन लोगों को उनके उपकारपूर्ण कार्यों के लिए आभार प्रदर्शन करना चाहिए था, उन्हें कृतज्ञता प्रकट करने के लिए कोई भी अवसर नहीं मिलता।

पहले गृहिणियाँ भी नौकरानियों के साथ, जिनके नैतिक आचरण की वे रक्षा करती थीं, कुछ इसी प्रकार का व्यवहार करती थीं। परन्तु आजकल नौकरों की समस्या इतनी गम्भीर हो गई है कि उन पर ऐसी कृपा अब बहुत कम हो गई है।

राजनीति के ऊँचे स्तरों पर यही बात देखने को मिलती है। एक ऐसा राजनेता, जिसने उन उच्च और महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, जिनके कारण उसे सुख के जीवन को त्यागकर सार्वजनिक क्षेत्र में आना पड़ा, सारी शक्ति धीरे-धीरे अपने हाथ में कर ली है, जब देखता है कि लोग उसके विरोधी हो गए हैं तो उसे उनकी कृतघ्नता पर बहुत विस्मय होता है। वह कभी यह नहीं सोचता कि उसका प्रयोजन चाहे और कुछ रहा हो, लोकहित कभी नहीं था, या शायद शासन करने के आनन्द ने ही किसी भी अंश तक उसे सार्वजनिक कार्यों की प्रेरणा दी हो। सभामंच से और पार्टी के समाचारपत्रों में जो वाक्यांश दुहराये जाते हैं उन्हें वह धीरे-धीरे सत्य की अभिव्यक्ति समझने लगा है और पक्षपात की आडम्बरपूर्ण भाषा को उसने प्रयोजनों का सच्चा विश्लेषण समझ लिया है। संसार जब उसे छोड़ देता है तो वह भी विरक्त और हताश होकर संसार को छोड़ देता है और उसे इस बात पर पश्चात्ताप होता है कि

लोकोपकार जैसा व्यर्थ कार्य करने की चेष्टा उसने की ही क्यों !

इन उदाहरणों से हमें चार सामान्य सिद्धान्तों का पता चलता है। यदि इनके सत्य का पर्याप्त वोध हो जाय तो इनसे उत्पीड़न-उन्माद का निवारण हो सकता है। पहला सिद्धान्त : याद रखिए कि आपके प्रयोजनों में हमेशा परोपकार-भावना की उतनी प्रधानता नहीं होती, जितनी आपको दिखाई देती है। दूसरा सिद्धान्त : अपने गुणों का अन्दाज़ा बढ़ाकर न लगाइए। तीसरा सिद्धान्त : दूसरों से यह आशा न कीजिए कि वे आपमें उतनी ही दिलचस्पी लेंगे, जितनी कि आप अपने-आप में लेते हैं। चौथा सिद्धान्त : कभी यह खयाल न कीजिए कि अधिकांश लोग आपके वारे में वहुत ज्यादा सोचते रहते हैं और आपको सताने की विशेष इच्छा रखते हैं। मैं इनमें से प्रत्येक सिद्धांत के संवंध में वारी-वारी से कुछ शब्द कहूँगा।

लोकोपकारी और प्रशासक के लिए अपने ही प्रयोजनों पर सन्देह करना विशेष रूप से आवश्यक है। इन लोगों की एक कल्पना होती है कि संसार या उसके किसी एक भाग को कैसा होना चाहिए। वे कभी सही तौर पर और कभी ग़लती से समझ लेते हैं कि उनकी कल्पना के साकार होने से मानव-जाति या उसके किसी भाग का वहुत कल्याण होगा। परन्तु वे इस वात पर अधिक ध्यान नहीं देते कि जिन व्यक्तियों पर उनके कार्यों का प्रभाव पड़ रहा है उन्हें भी अपने दृष्टिकोण से ऐसे संसार की कल्पना करने का समान अधिकार है, जो उन्हें पसन्द आ सके। प्रशासकीय प्रवृत्ति के व्यक्ति को पूरा विश्वास होता है कि उसकी कल्पना सही है और इससे भिन्न किसी और कल्पना में सच्चाई नहीं है। परन्तु उसका यह आत्म-परक विश्वास इस वात का प्रमाण नहीं है कि उसकी धारणा वास्तव में सही है। इसके अतिरिक्त उसका विश्वास वहुधा ऐसे परिवर्तनों की कल्पना से मिलने वाले आनन्द का आवरण मात्र है जो उसके द्वारा होंगे। शक्ति के मोह के अतिरिक्त एक और अभिप्रेरक शक्ति ऐसी स्थितियों में वहुत अधिक प्रभाव डालती है और वह है अहंकार। मेरा अनुभव है कि जव कोई वहुत ही आदर्शवादी व्यक्ति संसद के चुनाव में खड़ा होता है तो उसे

उन निर्वाचकों की आस्थाहीनता पर, जो यह समझ लेते हैं कि वह केवल अपने नाम के आगे संसद-सदस्य लिखना चाहता है, बहुत आश्चर्य होता है। चुनाव के बाद जब उसे कुछ सोचने का अवसर मिलता है तो वह महसूस करता है कि शायद अनास्थावान निर्वाचकों का ही विचार सही था। आदर्शवाद के कारण साधारण प्रयोजन भी विचित्र रूप धारण कर लेते हैं और इसलिए वास्तविक आस्थाहीनता का कुछ ही छींटा हमारे नेताओं पर अक्सर ठीक बैठता है। परम्परागत आचार-नीति जिस हद तक परोप-कार-भावना मन में बिठा देती है उस हद तक परोपकार करने की सामर्थ्य मानव-स्वभाव में शायद ही हो। जो लोग अपने सद्गुण पर गर्व अनुभव करते हैं वे अक्सर यह मान लेते हैं कि उन्होंने उस आदर्श की उपलब्धि कर ली है जो वास्तव में अप्राप्य है। सदाचारी-से-सदाचारी लोगों के कार्यों में भी प्रायः स्वार्थ के प्रयोजन होते हैं और इस पर दुःख प्रकट करने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसा न होता तो मानव-जाति जीवित नहीं रह सकती थी। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा समय यह देखने में लगा दे कि दूसरों को खाना मिल रहा है और उसे स्वयं खाने का ध्यान न रहे तो वह जीवित नहीं रह सकता। हाँ, वह यह अवश्य कर सकता है कि असत् से लड़ने के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त करने के एकमात्र उद्देश्य से कुछ खा लिया करे, किन्तु इसमें सन्देह है कि इस प्रयोजन से जो भोजन किया जाएगा वह अच्छी तरह पच भी सकेगा या नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में राल पर्याप्त मात्रा में पैदा नहीं हो सकेगी। इसलिए अच्छा यही है कि आदमी भोजन इसलिए करे कि उसमें उसे आनन्द मिलता है, इसलिए नहीं कि लोकहित के लिए भोजन करना आवश्यक है।

जो बात भोजन पर लागू होती है वही दूसरी चीजों पर भी लागू होती है। आप कोई भी काम ठीक ढंग से तभी कर सकते हैं जब आपमें उस काम के प्रति कुछ उत्साह हो, और स्वार्थ के प्रयोजन के बिना उत्साह कठिन है। इस दृष्टिकोण से स्वार्थ के प्रयोजनों में उन लोगों का उपकार करने की इच्छा को भी सम्मिलित करना चाहिए, जिनका किसी

व्यक्ति से जैविक दृष्टि से सम्बन्ध हो, जैसे शत्रुओं से अपनी पत्नी और सन्तान की रक्षा करने की इच्छा। इस हद तक परोपकार-वृत्ति सामान्य मानव-स्वभाव का अंश है, किंतु परम्परागत आचार-नीति में यह जितनी मात्रा में मिलती है वह मानव-स्वभाव का अंश नहीं है और वास्तव में वह दुर्लभ है। इसलिए जो लोग अपने-आपको नैतिक दृष्टि से वहुत ऊँचा समझने के इच्छुक हैं उन्हें अपने मन को यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि वे वहुत हद तक निःस्वार्थ हो चुके हैं, जो सम्भवतः वे नहीं हो सके हैं। अतः सन्त वनने के प्रयास का सम्बन्ध आत्म-प्रवंचना की ऐसी वृत्ति से जुड़ जाता है जो सहज ही उत्पीड़न-उन्माद की ओर ले जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से, जहाँ तक नैतिकता का सम्बन्ध है, दूसरे सिद्धान्त की भी व्याख्या हो गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपने गुणों को वढ़ाकर आँकना वुद्धिमानी नहीं है। परन्तु केवल नैतिक गुणों का ही नहीं, वल्कि अन्य गुणों का भी अन्दाज़ा वढ़ाकर नहीं लगाना चाहिए। जिस नाटककार के नाटक कभी सफल नहीं होते, उसे शान्त भाव से इस परिकल्पना पर सोच-विचार करना चाहिए कि उसके नाटक कहीं निम्न कोटि के तो नहीं हैं। उसे इसको विलकुल ग़लत समझकर अस्वीकार न कर देना चाहिए। यदि इसमें सत्य दिखाई दे तो आगमन-दार्शनिक की भाँति इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। यह सच है कि इतिहास में ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिनकी योग्यता को मान्यता नहीं मिल सकी, किंतु इनकी संख्या उन लोगों से वहुत कम है जिनकी योग्यता को समझने में कोई ग़लती नहीं की गई। यदि किसी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को मान्यता नहीं मिलती, तो मान्यता न मिलने के वावजूद उसे अपने काम में लगे रहने का पूरा अधिकार है। परन्तु यदि वह एक अयोग्य अहंकारी व्यक्ति है तो अच्छा यही है कि वह अपनी योग्यता के विषय में हठ न करे। यदि कोई व्यक्ति मान्यता न मिलने के वावजूद श्रेष्ठ कृति-सृजन का आवेग अनुभव करता है तो यह जानने का कोई भी उपाय नहीं है कि उक्त दो वर्गों में से उसका सम्बन्ध किस वर्ग से है। यदि आपका सम्बन्ध पहले

वर्ग से है तो आपके अटल रहने में बहुत बड़ी वीरता है और यदि आपका सम्बन्ध दूसरे वर्ग से है तो आपका प्रयास हास्यास्पद है। जब आपको मरे हुए सौ वर्ष बीत चुके होंगे तभी यह अनुमान लगाना सम्भव होगा कि आपका सम्बन्ध किस वर्ग से था। तब तक के लिए मैं एक परीक्षण सुझा सकता हूँ जो शायद त्रुटि-रहित तो नहीं है किन्तु जो इसके बावजूद बहुत उपयोगी है। यदि आप अपने को प्रतिभा-सम्पन्न समझते हैं जबकि आपके मित्र आपको ऐसा नहीं समझते, तो आप इस परीक्षण का उपयोग कर सकते हैं। यह परीक्षण इस प्रकार है : आप सृजन कुछ विचारों या भावनाओं को अभिव्यक्त करने की अनिवार्यता अनुभव करते हुए करते हैं या प्रशंसा की इच्छा से प्रेरित होकर? सच्चे कलाकार में भी प्रशंसा की प्रबल इच्छा होती है किन्तु वह इस दृष्टि से गौण होती है कि कलाकार विशेष प्रकार की रचना करना चाहता है। और यद्यपि उसे प्रशंसा की आशा रहती है, किन्तु प्रशंसा न भी मिले तो भी वह अपनी शैली में कोई परिवर्तन नहीं करेगा। इसके विपरीत जिस व्यक्ति को मुख्यतः प्रशंसा की आकांक्षा से प्रेरणा मिली हो, उसके भीतर कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो उसे एक विशेष प्रकार की अभिव्यंजना के लिए प्रेरित कर सके और इसलिए वह कोई और सर्वथा भिन्न कार्य भी इतनी ही कुशलता से कर सकता है। ऐसे व्यक्ति की कला की यदि प्रशंसा नहीं की जाती तो उसके लिए इसे छोड़ देना ही उपयुक्त है। और अधिक सामान्य रूप से यह बात यों कही जा सकती है कि आपका व्यवसाय कुछ भी हो, लेकिन जब दूसरे लोग आपकी योग्यताओं को उतना महत्त्व न दें, जितना कि स्वयं आप देते हैं तो आपको यह विश्वास न कर लेना चाहिए कि दूसरे लोगों का ही अनुमान ग़लत है। इसके कारण आप सहज ही यह विश्वास कर सकते हैं कि आपकी योग्यता को मान्यता न मिलने देने के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया है और इस विश्वास से निस्सन्देह आपका जीवन दुःखी हो जाएगा। यदि आप स्वीकार कर लें कि आपकी योग्यता उतनी महान् नहीं है, जितनी कि आप समझ रहे थे, तो हो सकता है कि

एक क्षण के लिए आप बहुत दुःखी हो जाएँ, किन्तु यह दुःख ऐसा है जो मिट सकता है और जिसके उपरान्त सुखी जीवन फिर सम्भव है।

हमारा तीसरा सिद्धान्त यह था कि हमें दूसरों से बहुत अधिक आशा नहीं रखनी चाहिए। पहले अशक्त महिलाओं को कम-से-कम अपनी किसी लड़की से यह आशा होती थी कि वह उनकी सेवा के लिए अपना पूरा जीवन अर्पित कर देगी, यहाँ तक कि वह आजीवन अविवाहित रहना पसन्द करेगी। किसी व्यक्ति से इतने परोपकार की आशा करना बहुत बड़ी नासमझी है क्योंकि उपकार करने वाले को जो हानि उठानी पड़ती है वह उस लाभ से कहीं ज्यादा है जो अहम्वादी को पहुँचता है। दूसरे लोगों, विशेषकर अपने निकटतम सम्बन्धियों से व्यवहार करने में जिस बात पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है और जिसे आप अक्सर भूल जाते हैं, वह यह है कि वे जीवन को अपने दृष्टिकोण और अपने अहम् के बिन्दु से देखते हैं, आपके दृष्टिकोण और आपके अहम् के बिन्दु से नहीं। किसी भी व्यक्ति से यह आशा नहीं करनी चाहिए कि वह दूसरे व्यक्ति के लिए अपने जीवन के मुख्य रूप को विकृत कर देगा। कभी-कभी अत्यधिक स्नेह के कारण बड़े-से-बड़ा त्याग भी स्वाभाविक हो जाता है, किन्तु यदि स्वाभाविक न हो तो त्याग नहीं करना चाहिए और इसके लिए किसी व्यक्ति को दोषी भी नहीं समझना चाहिए। लोग दूसरों के जिस आचरण की शिकायत करते हैं वह अक्सर सीमा से बढ़े हुए अहम् की लोलुपता के विरुद्ध स्वाभाविक अहम् की स्वस्थ प्रतिक्रिया-मात्र होता है।

हमारा चौथा सिद्धान्त यह था कि आप अपने बारे में जितना सोचते रहते हैं दूसरे लोग आपके बारे में उतना नहीं सोचते। उत्पीड़न-उन्माद से जो व्यक्ति पागल हो चुका है वह कल्पना कर लेता है कि सभी लोग, जो वास्तव में अपने-अपने धन्धों और कामों में व्यस्त रहते हैं, दिन-रात उस पगले को हानि पहुँचाने की कोशिश में लगे रहते हैं। इसी प्रकार उत्पीड़न-उन्माद का वह रोगी भी, जो बिलकुल पागल नहीं होता, दुनिया-भर की बातों को अपने-आपसे सम्पृक्त समझ बैठता है, जिनका वास्तव में

कोई आधार नहीं होता। सच तो यह है कि इस विचार से उसके अहंकार की तुष्टि होती है। यदि वह कोई बहुत बड़ा आदमी हो तो यह बात सच भी हो सकती है। बहुत वर्षों तक ब्रिटिश सरकार के सारे कार्य मुख्यतः नेपोलियन को विफल करने के लिए होते रहे थे। परन्तु जब कोई ऐसा व्यक्ति, जिसका कोई विशेष महत्त्व न हो, यह कल्पना करने लगे कि सब लोग दिन-रात उसके बारे में ही सोचते रहते हैं, तो समझना चाहिए कि वह पागलपन की ओर बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए आप किसी सार्वजनिक भोज के अवसर पर कोई भाषण देते हैं। सचित्र-पत्रों में अन्य वक्ताओं के चित्र प्रकाशित होते हैं, किन्तु आपका चित्र प्रकाशित नहीं होता। इसका क्या कारण हो सकता है ? जाहिर है कि यह कारण तो हो नहीं सकता कि दूसरे वक्ताओं को आपसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया। बात यही हो सकती है कि सम्पादकों ने आपकी उपेक्षा करने का आदेश दिया था। उन्होंने ऐसा आदेश क्यों दिया ? स्पष्ट है इसीलिए कि वे आपके महत्त्व के कारण आपसे डरते हैं। इस प्रकार आपके चित्र का प्रकाशित न होना एक मामूली भूल न रहकर सूक्ष्म प्रशंसा का रूप धारण कर लेता है। परन्तु इस प्रकार की आत्म-प्रवंचना सच्चे सुख की उपलब्धि में सहायक नहीं हो सकती। आपके मन की गहराई में यह बात जरूर रहेगी कि तथ्य कुछ और ही हैं और यथाशक्य अपने-आपसे इस बात को छिपाने के लिए आपको अधिकाधिक बेसिर-पैर वाली परिकल्पनाओं की सृष्टि करनी पड़ेगी। इनको सच मानने की क्रिया बहुत श्रम-साध्य होगी और अन्त में वह आपको थका डालेगी और चूंकि ये परिकल्पनाएं आपकी इस धारणा पर आधारित हैं कि आप व्यापक शत्रुता का शिकार बने हुए हैं, इसलिए आपकी अहम्मन्यता की रक्षा के लिए वे आपके मन में यह दुःखदायी भावना उत्पन्न कर देंगी कि आपको सारे संसार से संघर्ष करना पड़ रहा है। आत्म-प्रवंचना से जो सन्तोष मिलता है, उसमें कोई तत्त्व नहीं होता और सत्य चाहे कितना ही कटु क्यों न हो, अच्छा यही है कि आप उसका सामना करें, उसे सहन करने का प्रयत्न करें और इसके अनुसार अपने जीवन का निर्माण करें।

नवाँ अध्याय

लोकमत का भय

लोगों की जीवन-प्रणाली और विश्व-सम्बन्धी धारणाओं को जब तक वे लोग न सराहें, जिनसे उनके सामाजिक सम्बन्ध हैं, विशेषकर जिनके साथ वे रहते हैं, तब तक बहुत कम लोग सुखी रह सकते हैं। इस युग में समुदायों की एक विशेषता यह है कि वे कई दलों में बँटे हुए हैं। ये दल अपनी आचार-नीति और धारणाओं की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यह स्थिति सुधार-आन्दोलन (रिफ़ॉर्मेशन) या शायद पुनर्जागरण (रेनेसांस) के समय से आरम्भ हुई और तब से इस अन्तर में वृद्धि ही होती रही है। पहले प्रोटेस्टेंट और केथॉलिक वर्ग के लोग थे जिनमें केवल धर्म को लेकर ही नहीं, बल्कि बहुत-से व्यावहारिक प्रश्नों पर भी मतभेद था। अभिजात वर्ग में ऐसे अनेक कार्यों की अनुमति थी जो मध्यम व्यापारी वर्ग में बहुत बुरे समझे जाते थे। फिर स्वाधीनचेताओं और स्वतन्त्र विचारकों के दल आये जो धार्मिक कृत्यों को स्वीकार नहीं करते थे। स्वयं हमारे युग में यूरोप के सारे महाद्वीप में समाजवादियों और दूसरे लोगों में बहुत गहरा मतभेद है। यह मतभेद केवल राजनीति के क्षेत्रों में ही नहीं है, बल्कि जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में नज़र आता है। अंग्रेज़ी-भाषी देशों में अनेक प्रकार के मतभेद हैं। कुछ दल कला की प्रशंसा करते हैं, जबकि कुछ दूसरे दल इसे और आधुनिक कला को तो हर सूरत में ही, शैतान का काम समझते हैं। कुछ दल साम्राज्य के प्रति निष्ठा को सबसे बड़ा गुण मानते हैं, जबकि कुछ दूसरे दल इसे बहुत बुरा समझते हैं और कुछ दलों की दृष्टि में यह बहुत बड़ी मूर्खता है।

रूढ़िवादी व्यभिचार को घोर अपराध मानते हैं, परन्तु अधिकांश लोग इसे प्रशंसनीय नहीं तो क्षम्य अवश्य समझते हैं। कैथॉलिक वर्ग में तलाक़ बिलकुल वर्जित है, जबकि वे अधिकतर लोग, जो कैथॉलिक नहीं हैं, इसे विवाह-संस्कार के उन्नयन के लिए आवश्यक समझते हैं।

दृष्टिकोण में इतना अन्तर होने के कारण विशेष रुचि और विश्वास में आस्था रखने वाला कोई व्यक्ति एक दल में अपने-आपको बहिष्कृत अनुभव कर सकता है, यद्यपि किसी दूसरे दल में उसकी गणना सामान्य मनुष्य में होगी। लोगों के जीवन में, विशेषकर युवक-युवतियों के जीवन में, बहुत-कुछ दुःख इसी कारण से आता है। युवक-युवती किसी-न-किसी प्रकार कुछ समसामयिक प्रकार के विचार ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उन्हें पता चलता है कि जिस समुदाय में वे रहते हैं उनमें ये विचार अत्यधिक कुत्सित समझे जाते हैं। युवक-युवतियों को प्रतीत होता है कि जैसा उनका समुदाय है वैसा ही पूरा संसार होगा। उन्हें शायद ही विश्वास हो कि पथ-भ्रष्ट कहलाने के डर से वे जिन विचारों को सबके सामने प्रकट करने का साहस नहीं कर सकते, वे किसी अन्य स्थान या मंडली में बहुत साधारण समझे जाते हैं। इस प्रकार विश्व का ज्ञान न होने के कारण बहुत-कुछ अनावश्यक कष्ट झेलना पड़ता है। यह कष्ट कभी-कभी तो केवल युवावस्था में ही झेलना पड़ता है, किन्तु बहुधा इसे जीवन-भर झेलना पड़ता है। यह विविक्तता केवल व्यथा का ही स्रोत नहीं होती, इसके कारण विरोधी वातावरण में मानसिक स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए शक्ति का बहुत अपव्यय भी करना पड़ता है और जहां तक विचारों को उनके तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचाने का सम्बन्ध है, सौ में से निन्यानवे लोगों में कुछ-न-कुछ भीरुता आ ही जाती है। ब्रांटे बहनों की पुस्तकें जब तक प्रकाशित नहीं हुई थीं, तब तक उन्हें समस्वभाव व्यक्तियों से मिलने का अवसर नहीं मिला। एमिली पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उसमें वीरता और साहस था, किन्तु शारलॉट पर, जिसका दृष्टि-कोण उसकी योग्यताओं के बावजूद बहुत हद तक सदा एक गवर्नेस जैसा

ही रहा—इसका अवश्य प्रभाव पड़ा। एमिली ब्रांटे की तरह ब्लेक भी मानसिक दृष्टि से दूसरों से बहुत विविक्त था, किन्तु एमिली की तरह ही उसमें भी इसके दुष्प्रभावों को वशीभूत करने की सामर्थ्य थी, क्योंकि उसे पूरा विश्वास था कि उसकी धारणाएँ सही हैं और उसके आलोचकों की धारणाएँ ग़लत हैं। लोकमत के प्रति उसके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में हुई है :

> मुझे केवल एक ही व्यक्ति ऐसा मिला
> जिसे देखकर मुझे मतली-सी नहीं हुई
> वह था फ़ुसेली : वह तुर्की भी था और यहूदी भी।
> प्यारे ईसाई मित्रो कहो क्या हाल है ?

परन्तु ऐसे लोग बहुत कम हैं जिनके आन्तरिक जीवन में इतना बल हो। प्रायः सभी लोगों के सुख के लिए सहानुभूति का वातावरण आवश्यक है। निस्सन्देह अधिकांश लोगों को सहानुभूतिपूर्ण वातावरण मिल जाता है। युवावस्था में प्रचलित धारणाएं उनके मन में बैठ जाती हैं और स्वभावतः वे अपने-आपको उन विश्वासों और प्रथाओं के अनुकूल बना लेते हैं, जो उन्हें अपने इर्द-गिर्द मिलते हैं। परन्तु बहुत-से लोगों के लिए, जिनमें बौद्धिक या कला-सम्बन्धी योग्यता रखने वाले सभी लोग सम्मिलित हैं, इस प्रकार चुपचाप मान लेने वाला दृष्टिकोण असम्भव है। उदाहरण के लिए किसी छोटे क़स्बे में जन्म लेने वाले व्यक्ति को युवावस्था के आरम्भ से ही ऐसा वातावरण मिलता है जो मानसिक श्रेष्ठता के लिए प्रत्येक दृष्टि से प्रतिकूल होता है। यदि वह गम्भीर विषयों पर पुस्तकें पढ़ना चाहता है तो दूसरे लड़के उससे घृणा करने लगते हैं और अध्यापक कहते हैं कि इस प्रकार की पुस्तकें मानसिक अस्थिरता पैदा करती हैं। वह कला में रुचि लेता है तो उसके साथी उसे पौरुषहीन समझ लेते हैं और गुरुजन अनैतिक। यदि वह अपने लिए कोई ऐसा व्यवसाय चुनना चाहता है, जो उसके समाज के लोगों का नहीं रहा, चाहे यह व्यवसाय कितना ही सम्मानास्पद क्यों न हो, तो उससे कहा जाता है कि वह अपने को बहुत

बड़ा समझने लगा है और जो काम उसके पिता के लिए अच्छा-खासा था वही उसके लिए भी ठीक होना चाहिए। यदि वह अपने माता-पिता के धार्मिक सिद्धान्तों या राजनीतिक सम्बन्धों की कुछ आलोचना करे तो उसे बहुत बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से असाधारण योग्यता रखने वाले अधिकांश युवक-युवतियों के लिए किशोरावस्था बहुत दुःख की अवस्था होती है। उनके साधारण साथियों के लिए यह काल उल्लास और आनन्द का काल हो सकता है, परन्तु वे अपने लिए कोई ऐसी चीज़ चाहते हैं, जो अधिक गम्भीर हो और यह चीज उन्हें अपने उस समाज में, जिसमें भाग्यवश उनका जन्म हुआ होता है, न तो अपने साथियों में मिल सकती है और न ही अपनी उम्र से बड़े लोगों में।

जब ये लोग विश्वविद्यालयों में पहुँचते हैं तो वहाँ उन्हें अपनी पसन्द के कुछ लोग मिल जाते हैं और उनके कुछ वर्ष बहुत सुख के साथ बीत जाते हैं। यदि वे सौभाग्यवान् हैं तो विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद उन्हें कोई ऐसा काम मिल सकता है, जिसमें अपनी पसन्द के लोग मिल जाएँ। लन्दन या न्यूयार्क जैसे बड़े शहर में रहने वाले किसी मेधावी व्यक्ति को सामान्यतः ऐसे लोगों की टोली मिल सकती है जहाँ उसे अपने विचारों को छिपाने या ढोंग रचने की आवश्यकता न पड़े। परन्तु यदि उसे अपने व्यवसाय के कारण किसी छोटी जगह में रहना पड़े और विशेषकर जब इस व्यवसाय में जनसाधारण का सम्मान प्राप्त करना भी आवश्यक हो, जैसे चिकित्सा या वकालत के व्यवसाय में, तो उसे जीवन-भर प्रतिदिन मिलने वाले अधिकांश लोगों से अपने असली विचारों और विश्वासों को छिपाना पड़ सकता है। यह स्थिति देश की विशालता के कारण अमेरिका में विशेष रूप से मिलती है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में कितने ही स्थानों में ऐसे लोग मिलेंगे जो एकाकीपन अनुभव करते हों। पुस्तकों के द्वारा उन्हें ऐसे स्थानों का ज्ञान है, जहाँ वे एकाकीपन अनुभव नहीं करेंगे, किन्तु वहाँ रहने का सुयोग उन्हें नहीं मिल सकता। उन्हें कभी-कभी ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है, जिससे वे घुल-मिलकर बातें कर

सकें। जिन लोगों के व्यक्तित्व में ब्लेक और एमिली ब्रांटे जैसी महत्ता नहीं है, उनके लिए ऐसी परिस्थितियों में सच्चा सुख प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसके लिए कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ निकालना आवश्यक है, जिससे लोकमत के अत्याचार को कम या दूर किया जा सके और जिसके द्वारा अल्पसंख्यक मेधावी वर्ग के लोग एक-दूसरे को जान सकें और एक-दूसरे के सत्संग का आनन्द ले सकें।

बहुधा अनावश्यक भीरुता से कष्ट में और भी वृद्धि हो जाती है। जो लोग लोकमत से डरते हैं, उनपर लोकमत ऐसे लोगों की अपेक्षा, जो उसकी उपेक्षा करते हैं, अधिक अत्याचार करता है। कुत्ते से लोग डरेंगे तो वह ज्यादा जोर से भौंकेगा और काटने को दौड़ेगा, किन्तु उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाए तो वह कम भौंकेगा और काटने भी न दौड़ेगा। मानव जाति की भी कुछ हद तक इसी तरह विशेषता पाई जाती है। यदि आप लोगों को दिखाएँ कि आप उनसे डरते हैं तो उन्हें सताने के लिए एक अच्छा शिकार मिल जाता है, लेकिन अगर आप उनकी उपेक्षा करें तो उन्हें अपनी ही शक्ति पर सन्देह होने लगता है और इसलिए वे आपको आपके हाल पर छोड़ देते हैं। किन्तु मैं उल्लंघन के चरम रूपों पर विचार नहीं कर रहा हूँ। यदि कॅसिंग्टन में आपकी धारणाएँ वे ही हों जो रूस के लोगों में सामान्य हैं या रूस में वे धारणाएँ हों जो कॅसिंग्टन के लोगों में सामान्य हैं तो इसके परिणामों को भी आपको स्वीकार करना चाहिए।

मैं ऐसी चरम स्थितियों पर विचार नहीं कर रहा हूँ, बल्कि सहज रूढ़ि के बहुत साधारण-से उल्लंघनों की बात कर रहा हूँ, जैसे उचित लिबास न पहनना या किसी विशेष चर्च से संबद्ध न होना अथवा प्रज्ञा-गर्भित पुस्तकें पढ़ने से बचना। यदि ये उल्लंघन अवज्ञा के रूप में नहीं, बल्कि सहज रूप से, बेपरवाही के साथ और प्रसन्नचित्त होकर किए जाएँ तो बड़े-से-बड़े रूढ़िवादी समाज के लिए भी वे सहनीय बन जाएंगे। क्रमिक रूप से इस प्रकार के उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को एक ऐसे

सह्य पागल का स्थान प्राप्त हो सकता है, जिसे ऐसी अनेक बातों की इजाज़त है, जो किसी दूसरे व्यक्ति के लिए असभ्य समझी जाती है। यह बहुत हद तक अच्छे स्वभाव और मैत्री-भाव पर निर्भर है। रूढ़िवादी लोग जब किसी व्यक्ति को रूढ़ियों का उल्लंघन करते देखते हैं तो उन्हें अधिक क्रोध इसलिए आता है कि वे इन उल्लंघनों को अपनी आलोचना समझ लेते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी मिलनसारी और मित्रता के द्वारा उन्हें यह विश्वास दिला सके कि रूढ़ियों का उल्लंघन करने से उसका आशय उनकी आलोचना करना नहीं है तो वे इनमें से अधिकांश को क्षम्य समझेंगे।

निन्दा से बचने का यह तरीका उन लोगों के लिए सम्भव नहीं है, जो अपनी अभिरुचियों या विचारों के कारण समुदाय की सहानुभूति खो देते हैं। सहानुभूति न मिलने के कारण वे दुःखी रहते हैं और कुछ झगड़ालू हो जाते हैं यद्यपि बाहरी रूप में वे किसी सख्त झगड़े से बचे रहते हैं। इसलिए जो लोग अपने समाज की रूढ़ियों से मेल नहीं खाते, वे दुःखी तथा वक्र हो जाते हैं और उनमें विनोदी स्वभाव का अभाव होता है। ये लोग जब किसी ऐसी मंडली में पहुँच जाते हैं जहाँ उनके दृष्टिकोण को विचित्र नहीं माना जाता, तो वहाँ इनके स्वभाव में बहुत बड़ा परिवर्तन दिखाई देने लगता है। गम्भीर, शर्मीले और एकान्त-प्रिय होने की बजाय वे बहुत हँसमुख हो सकते हैं और उनमें आत्म-विश्वास आ सकता है। वक्र न रहकर वे सीधे और सरल स्वभाव के हो सकते हैं और आत्मकेन्द्रित होने की बजाय वे मिलनसार और बहिर्मुखी बन सकते हैं।

इसलिए ऐसे युवक-युवतियों को, जो अपने वातावरण से ताल-मेल न रख पाते हों, यथासम्भव अपने लिए कोई ऐसा व्यवसाय चुनना चाहिए जिसमें उन्हें समस्वभाव व्यक्ति मिल सकें, चाहे इसमें आय की दृष्टि से उन्हें बहुत हानि ही क्यों न उठानी पड़े। बहुधा उन्हें इसकी जानकारी ही नहीं होती कि ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि उनको विश्व का बहुत थोड़ा ज्ञान होता है और वे सहज ही यह समझ लेते हैं कि वे अपने

घर में जिन पूर्वाग्रहों के आदी हो गए हैं वे विश्वव्यापी हैं। यह एक ऐसा मामला है जिसके सम्बन्ध में बड़े-छोटों की बहुत सहायता कर सकते हैं, क्योंकि इसके लिए मानव-जाति के बारे में पर्याप्त अनुभव होना आवश्यक है।

मनोविश्लेषण के इस युग में कोई व्यक्ति अपने परिवेश के अननुरूप हो तो सामान्यतः मनोवैज्ञानिक गड़बड़ी को ही इसका कारण समझ लिया जाता है। मेरे विचार में ऐसा समझना बिलकुल ग़लत है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी युवक के माता-पिता विकासवाद को दुष्टता का सिद्धान्त मानते हैं। ऐसी स्थिति में यदि युवक को माता-पिता की सहानुभूति से वंचित होना पड़े तो इसका कारण केवल उसकी प्रज्ञा ही हो सकती है। अपने परिवेश के अननुरूप होना निस्सन्देह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, किन्तु यह हमेशा ही ऐसा दुर्भाग्य नहीं होता जिससे जैसे भी हो बचना आवश्यक हो। मूर्खता, पूर्वाग्रह या क्रूरता से भरे वातावरण के अननुरूप होना योग्यता का लक्षण है। और ये विशेषताएँ किसी-न-किसी हद तक प्रत्येक वातावरण में मिलती हैं। गेलिलियो और केपलर के 'खतरनाक विचार' (जैसा कि जापान में कहा जाता है) थे और स्वयं हमारे युग के अधिकांश प्रज्ञावान व्यक्तियों के विचार भी इसी प्रकार के हैं। समाज-भावना का इतना अधिक विकास वांछनीय नहीं है कि ये लोग समाज के विरोध से, जिसका सामना इन्हें अपने विचारों के कारण करना पड़ सकता है, डरने लगें। जो चीज़ वांछनीय है वह यह है कि इस विरोध को यथासम्भव कम और प्रभावहीन करने के तरीके मालूम किए जाएँ।

आज की दुनिया में इस समस्या के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू का सामना युवावस्था में करना पड़ता है। यदि व्यक्ति को एक बार उचित व्यवसाय और उचित वातावरण मिल जाए तो वह सामाजिक उत्पीड़न से बच सकता है। परन्तु यदि उसकी उम्र कम हो और उसकी योग्यताओं की परीक्षा भी न हो सकी हो, तो उसे ऐसे अनभिज्ञों की दया पर रहना पड़ता है जो अपने-आपको ऐसे मामलों में भी निर्णय करने का

अधिकारी समझते हैं, जिनके बारे में वे कुछ भी नहीं जानते और वे यह संकेत मिलने पर ही क्रोधोन्मत्त हो जाते हैं कि इतनी कम उम्र के व्यक्ति का ज्ञान उनसे अधिक हो सकता है। जिन लोगों को अन्ततः अज्ञान के अत्याचार से मुक्ति मिलती है, उन्हें इतना घोर संघर्ष करना पड़ा है और इतने लम्बे समय तक दमन सहना पड़ा है कि अन्त में उनका जीवन कटु हो जाता है और उनकी बहुत-कुछ शक्ति नष्ट हो चुकी होती है। सांत्वना के लिए एक सिद्धान्त यह है कि प्रतिभा सदा ही सफल होगी और इस सिद्धान्त का सहारा लेते हुए बहुत-से लोग समझते हैं कि योग्य युवकों को उत्पीड़न से बहुत अधिक हानि नहीं पहुँच सकती। परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का कोई भी कारण दिखाई नहीं देता। यह लगभग वैसी ही बात है कि हत्या का भेद जरूर खुलेगा। यह सच है कि हत्या की जिन घटनाओं का हमें ज्ञान है उनका पता लग चुका है, किन्तु जाने अभी कितनी घटनाएँ और हैं, जिनके बारे में कोई कुछ नहीं जानता। इसी प्रकार हम जितने प्रतिभाशाली व्यक्तियों के बारे में जानते हैं, उन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की है, परन्तु इससे यह समझ लेना सही नहीं हो सकता कि असंख्य लोगों को युवावस्था में परिस्थितियों से हार नहीं माननी पड़ी। इसके अतिरिक्त प्रश्न केवल प्रतिभा का नहीं, बल्कि योग्यता का भी है, जो समुदाय के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि प्रतिभा। और प्रश्न किसी-न-किसी तरह बच निकलने का ही नहीं है, बल्कि इस प्रकार बच निकलने का है कि युवक का जीवन कटु न होने पाए और उसकी शक्तियों को कोई हानि न पहुँचे। इन्हीं सब कारणों से युवकों को बहुत अधिक सताना नहीं चाहिए।

बूढ़ों के लिए युवकों की इच्छाओं का सम्मान करना आवश्यक है, किन्तु युवकों के लिए बूढ़ों की इच्छाओं का सम्मान करना वांछनीय नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। दोनों स्थितियों में युवकों के जीवन पर ही असर पड़ेगा, बूढ़ों के जीवन पर नहीं। जब युवक बूढ़ों के जीवन को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं, जैसे माता या पिता के दूसरे विवाह पर

आपत्ति करके, तो वे ठीक वैसी ही ग़लती करते हैं जैसी कि बूढ़े युवकों के जीवन को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हुए करते हैं। बूढ़ों और युवकों, दोनों को ही आवश्यक विवेकबुद्धि की सीमा पर पहुँचकर अपनी-अपनी पसन्द और आवश्यक हो तो ग़लतियां करने का भी समान रूप से अधिकार है। यदि कोई युवक किसी महत्त्वपूर्ण मामले में बूढ़ों के दबाव के सामने झुक जाए तो यह उसकी नासमझी है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप युवक हैं और अभिनेता बनना चाहते हैं, किन्तु आपके माता-पिता आपकी इस इच्छा का विरोध करते हैं, क्योंकि उनके विचार में यह व्यवसाय या तो अनैतिक है या सामाजिक दृष्टि से घटिया है। वे आप पर हर तरह का दबाव डाल सकते हैं। वे कह सकते हैं कि आपने उनकी बात नहीं मानी तो वे आपको निकाल देंगे। वे कह सकते हैं कि कुछ वर्षों के बाद आपको अपने इस निर्णय पर पछताना पड़ेगा। वे आपके सामने ऐसे युवकों के अनेक भयानक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जो आपकी तरह ही दुस्साहसी थे और जिन्हें अंत में बुरे परिणामों का सामना करना पड़ा। निस्संदेह उनका यह विचार सही हो सकता है कि अभिनय आपके लिए उपयुक्त व्यवसाय नहीं है। संभव है कि आपमें अभिनय की कोई योग्यता न हो या आपकी आवाज़ अच्छी न हो। यदि ऐसा है तो आपको रंगमंच के लोगों से शीघ्र ही इसका पता चल जाएगा और इसके बाद भी किसी दूसरे व्यवसाय में जाने के लिए आपके पास काफ़ी समय रहेगा। माता-पिता की दलीलों को सुनकर प्रयास करना छोड़ देना उचित नहीं है। उनके मना करने के बावजूद आप अपनी इच्छा के अनुसार काम करना आरम्भ कर दें तो आप देखेंगे कि वे जल्दी ही ठीक हो जाएँगे, इतनी जल्दी कि इसकी कल्पना न आपने की होगी और न ही उन्होंने। परन्तु यदि इस व्यवसाय में लगे हुए लोगों की सम्मति आपके लिए उत्साह-जनक न हो तो यह और बात है। नये लोगों के लिए अभ्यस्त व्यवसायियों की सम्मति पर ध्यान देना आवश्यक है।

विशेषज्ञों की राय को छोड़कर मेरे विचार में सामान्य रूप से बड़े

और छोटे दोनों ही मामलों में दूसरों की राय का बहुत अधिक सम्मान किया जाता है। साधारणतः लोकमत का उतना ही सम्मान करना चाहिए जितना भूख और क़ैद से बचने के लिए आवश्यक हो। लोकमत का इससे अधिक सम्मान अनावश्यक अत्याचार का स्वेच्छा से शिकार बनने के समान है और इससे सुख के मार्ग में सभी प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। उदाहरण के लिए खर्च के प्रश्न को ही लीजिए। बहुत-से लोगों को अपनी नैसर्गिक रुचि के अनुसार जिन चीज़ों पर खर्च करना चाहिए उन पर खर्च न करके वे कुछ और चीज़ों पर सिर्फ़ इस-लिए खर्च करते हैं क्योंकि वे महसूस करते हैं कि वे अपने पड़ोसियों का सम्मान मोटर रखकर और अच्छे भोजों का आयोजन करके ही प्राप्त कर सकते हैं। सच तो यह है कि एक व्यक्ति जो मोटर रख सकता है लेकिन हार्दिक रूप से उसे यात्रा या अच्छी पुस्तकों पर खर्च करने का शौक़ है और उन्हीं पर वह खर्च भी करता है, तो आप देखेंगे कि अन्त में इस व्यक्ति को जितना सम्मान मिलेगा, उतना सम्मान उसे तब न मिलता यदि वह आम लोगों की तरह ही मोटर रखकर सम्मान पाना चाहता। जान-बूझकर लोकमत की अवज्ञा करने का कोई अर्थ नहीं है। इसका अर्थ यह होगा कि आप अभी भी उसकी सत्ता से प्रभावित हैं, भले ही ग़लत-सलत ढंग से हों। परन्तु हार्दिक रूप से लोकमत की उपेक्षा करना शक्ति का द्योतक भी है और सुख का स्रोत भी। और एक ऐसा समाज, जिसमें रहने वाले पुरुष-स्त्री रूढ़ियों के आगे बहुत अधिक नतमस्तक नहीं होते, वह उस समाज से कहीं अधिक रोचक है, जहाँ सब लोग एक जैसा व्यवहार करते हैं। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र का विकास अलग-अलग होता है, वहाँ वैयक्तिक विशेषताओं का अन्तर सुरक्षित रहता है और नये लोगों से मिलना कहीं अधिक अच्छा होता है, क्योंकि वे उन लोगों की प्रतिकृति मात्र नहीं होते, जिनसे आप पहले मिल चुके हैं। अभिजात-तन्त्र में यह लाभ उपलब्ध था, तब प्रतिष्ठा किसी विशेष कुल में उत्पन्न होने पर निर्भर थी और इसलिए अनियन्त्रित आचरण की अनुमति थी।

आज के संसार में सामाजिक स्वातन्त्र्य के इस स्रोत को हम लोग खोते जा रहे हैं और इसलिए एकरूपता के खतरों को अधिक सचेत रूप से महसूस करना वांछनीय हो गया है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि लोगों को जान-बूझकर सनकी हो जाना चाहिए। यह भी उतना ही नीरस होगा जितना कि रूढ़ि-प्रिय होना। मेरा तात्पर्य केवल यह है कि लोगों को सहज-स्वाभाविक होना चाहिए और उनको अपनी प्रत्युत्पन्न रुचियों के अनुसार, जब तक ये निश्चित रूप से समाज-विरोधी न हों, आचरण करना चाहिए।

आज विश्व में परिवहन के द्रुतगामी साधनों के कारण लोग भौगोलिक दृष्टि से अपने निकटतम पड़ोसियों पर उतने आश्रित नहीं हैं जितना पहले थे। जिन लोगों के पास मोटर है वे बीस मील तक की दूरी पर रहने वाले किसी व्यक्ति को अपना पड़ोसी समझ सकते हैं। इसलिए पहले की अपेक्षा उन्हें अपने मित्रों का चुनाव करने के लिए अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। किसी घने बसे हुए इलाक़े में किसी व्यक्ति को बीस मील के भीतर समस्वभाव मित्र न मिल सकें तो इसे उसका दुर्भाग्य समझना चाहिए। बड़े शहरों में यह विचार अब नहीं रहा कि लोगों को अपने निकटतम पड़ोसियों को जानना चाहिए, किन्तु छोटे नगरों और देहात के लोगों में यह विचार अभी भी कुछ-न-कुछ हद तक मिलता है। यह अब मूर्खतापूर्ण विचार हो गया है, क्योंकि मिलने-जुलने के लिए अब निकटतम पड़ोसियों पर आश्रित होने की आवश्यकता नहीं रही। समीपता के आधार पर मित्र बनाने की अपेक्षा स्वभाव-साम्य के आधार पर मित्र बनाना अब अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है। एक-जैसी रुचि और एक-जैसे विचार रखने वाले लोगों को एक-दूसरे का संसर्ग प्राप्त होता रहे तो इससे सुख में वृद्धि होती है। अनुमान है कि सामाजिक संसर्ग का विकास इसी दिशा में अधिक-से-अधिक होगा और आशा की जा सकती है कि बहुत-से रूढ़ि-विरोधी लोग इस समय जिस एकाकीपन से पीड़ित हैं वह घटते-घटते लुप्त-प्राय हो जाएगा। इससे उनके

सुख में निस्संदेह वृद्धि होगी, परन्तु इससे रूढ़िवादियों के पर-पीड़न से आनन्द प्राप्त करने की प्रवृत्ति में अवश्य कमी हो जाएगी, जो रूढ़ि-विरोधी लोगों को अपनी दया पर रखने के कारण इस समय उन्हें मिलता है। परन्तु मेरी दृष्टि में यह कोई ऐसा आनन्द नहीं है जिसकी रक्षा करने के लिए हमें बहुत अधिक चिन्तित होना पड़े।

लोकमत का भय किसी भी अन्य भय की भांति उत्पीड़क होता है और उससे विकास रुद्ध हो जाता है। जब तक इस प्रकार का भय रहेगा तब तक किसी भी प्रकार की महत्ता की उपलब्धि कठिन होगी और तब तक वह आत्मिक स्वातन्त्र्य भी प्राप्त नहीं हो सकेगा, जो सच्चे सुख का स्रोत है, क्योंकि सुखी होने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमारी जीवन-प्रणाली हमारी अपनी गहरी प्रेरणाओं से उद्भूत हो और हमारे पड़ोसियों या सम्बन्धियों की आकस्मिक रुचियों और इच्छाओं पर आधारित न हो। इसमें सन्देह नहीं कि निकटतम पड़ोसियों का भय पहले की अपेक्षा अब बहुत कम हो गया है, परन्तु अब एक नये भय का सामना करना पड़ रहा है और वह है समाचारपत्रों का—न जाने क्या छाप दें समाचारपत्र ! यह उतना ही भयावह है जितना कि चुड़ैलों को जिन्दा जला डालने की मध्ययुगीन प्रथा से सम्बद्ध कोई वस्तु। जब कोई समाचारपत्र किसी व्यक्ति को, जिससे सम्भवतः किसी भी प्रकार की हानि की आशंका नहीं होती, बलि का बकरा बनाता है तो इसके परिणाम बहुत भयंकर हो सकते हैं। सौभाग्य से अभी अधिकांश लोगों को अप्रसिद्धि के कारण इस दुर्भाग्य का सामना नहीं करना पड़ता, परन्तु प्रचार की विधियों में जैसे-जैसे पूर्णता आती जाएगी, वैसे-वैसे सामाजिक उत्पीड़न की इस नूतन प्रणाली का ख़तरा बढ़ता जाएगा। यह समस्या इतनी गम्भीर है कि इसकी लपेट में आया हुआ व्यक्ति इसकी अवहेलना करे तो भी इसका प्रतिकार सम्भव नहीं है। समाचारपत्रों के स्वातन्त्र्य के महान् सिद्धान्त को आप चाहे जो भी समझें, मेरी दृष्टि में अपमानजनक लेखों से सम्बन्धित वर्तमान क़ानूनों ने जो सीमाएं निश्चित कर रखी हैं

उन्हें और अधिक स्पष्ट करना पड़ेगा और ऐसी प्रत्येक बात को छापने की मनाही करनी पड़ेगी जिससे निर्दोष लोगों का जीना दूभर होता हो, भले ही उन्होंने कोई ऐसा काम किया हो या कोई ऐसी बात कही हो, जिसको तोड़-मरोड़कर छाप देने से उन्हें अलोकप्रिय बना सकता हो। परन्तु इस बुराई का पूर्ण प्रतिकार तभी सम्भव है जब जनसाधारण की सहिष्णुता में वृद्धि हो। सहिष्णुता में वृद्धि करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि ऐसे लोगों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि की जाए, जो सच्चे सुख का आनन्द लेते हों और इसलिए जो दूसरे लोगों को उत्पीड़ित करके मुख्य आनन्द प्राप्त न करते हों।

खण्ड २

सुख के कारण

दसवां अध्याय

क्या सुख अभी भी सम्भव है ?

अब तक हम दुःखी व्यक्ति के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। अब हमें सुखी व्यक्ति के बारे में विचार करना है और यह अधिक आनन्द-प्रद कार्य है। अपने कुछ मित्रों से बातचीत करके और उनकी पुस्तकें पढ़कर मैं प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आज के संसार में सुखी रहना असम्भव है। किन्तु अन्तरीक्षण और विदेश-यात्रा करने तथा अपने माली से बातें करने के बाद यह विचार ग़लत दिखाई देने लगता है। अपने साहित्यिक मित्रों के दुःखों पर मैं पहले किसी अध्याय में विचार कर चुका हूँ। इस अध्याय में मैं उन लोगों का सर्वेक्षण करना चाहता हूँ जिनसे मैं अपने जीवन में मिल चुका हूँ।

सुख दो प्रकार का होता है, यद्यपि इनके बीच कई और अवस्थाएँ हैं। मेरा आशय दो प्रकार के जिन सुखों से है, उनमें भेद करने के लिए हम उन्हें सादा और परिष्कृत सुख, या पाशविक तथा आध्यात्मिक सुख अथवा हृदय और बुद्धि का सुख कह सकते हैं। इन संज्ञाओं में से किसी संज्ञा का चुनाव प्रतिपाद्य विषय के अनुसार ही किया जा सकता है। इस समय मेरे सम्मुख कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इस समय तो मैं विवेचन मात्र कर रहा हूँ। इन दो प्रकार के सुखों में जो भेद है उसको बहुत सरल रूप से प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि एक की उपलब्धि किसी भी मनुष्य को हो सकती है और दूसरे की उपलब्धि केवल शिक्षितों के लिए ही सम्भव है। बचपन में मैं एक व्यक्ति को जानता था, जो बहुत सुखी था और जो कुआं खोदने का काम करता था। वह बहुत

ही लम्बा और मोटा-ताजा आदमी था। वह लिखना-पढ़ना बिलकुल नहीं जानता था और १८८५ ई० में जब उसे संसद् के लिए मतदान का अवसर मिला तो उसे पहली बार ज्ञात हुआ कि देश में ऐसी भी एक संस्था है। उसके सुख का आधार कोई बौद्धिक स्रोत नहीं था। इसका आधार प्रकृति के नियमों या मानव जाति की पूर्णता, अथवा सार्वजनिक सेवाओं के लोक-स्वामित्व या अन्ततः सेवेन्थ डे एडवेंटिस्ट्स की विजय होगी, यह विश्वास अथवा ऐसे ही अन्य मतों में से कोई मत नहीं था, जिन्हें बौद्धिक वर्ग के लोग जीवन के रसास्वादन के लिए आवश्यक समझते हैं। इसका आधार था शारीरिक बल, परिश्रम और पाषाण-रूपी बाधाओं का उन्मूलन। मेरे माली का सुख भी इसी प्रकार का है। वह खरगोशों से अनन्त युद्ध करने में लगा हुआ है। वह इन खरगोशों का ज़िक्र ठीक उसी तरह करता है जिस तरह स्कॉटलैंड यार्ड बॉलिशविकों का करता है। वह उन्हें स्याह, धूर्त और निर्दय बताता है और उसके विचार में उनका मुक़ाबला करने के लिए उनके जैसा धूर्त होना आवश्यक है। जिस प्रकार वेल्हाला के वीर, किसी जंगली सूअर के शिकार में सारा दिन बिता देते थे, जिसे वह शाम तक मार डालते थे, किन्तु जो सुबह को किसी चमत्कार से फिर जी उठता था, उसी प्रकार मेरा माली भी दिन में अपने शत्रु को मार डालता है किन्तु उसे यह डर नहीं होता कि उसका शत्रु फिर जी उठेगा। यद्यपि उसकी अवस्था सत्तर वर्ष से अधिक है, फिर भी वह सारा दिन काम करता है और काम पर आने तथा घर लौटने के लिए उसे पहाड़ी रास्ते पर सोलह मील तक साइकिल की सवारी करनी पड़ती है। परन्तु उसके आनन्द का स्रोत कभी भी सूखने नहीं पाता और यह स्रोत उसे इन्हीं 'खरगोशों' से मिला है।

किन्तु आप कहेंगे कि इस प्रकार का सरल आनन्द हम जैसे श्रेष्ठ लोगों के लिए सम्भव नहीं है। खरगोश जैसे तुच्छ जीवों से युद्ध करके हमें क्या आनन्द अनुभव हो सकता है? मेरे विचार में यह तर्क बहुत फूहड़ है। खरगोश पीत-ज्वर के कीटाणु से बहुत बड़ा होता है, फिर भी

उच्च कोटि के किसी व्यक्ति को उससे लड़ने में सुख मिल सकता है। मेरे माली की खुशियों से मिलती-जुलती खुशियाँ, जहाँ तक उनकी भावात्मक अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध है, बहुत अधिक शिक्षित लोगों के लिए भी सम्भव हैं। शिक्षा के कारण केवल उन क्रिया-कलापों में अन्तर आया है जिनके द्वारा ये खुशियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। उपलब्धि के आनन्द के लिए ऐसी कठिनाइयाँ आवश्यक होती हैं जिनके कारण पहले तो सफलता संदिग्ध दिखाई दे, यद्यपि अन्त में सामान्यतः सफलता मिल ही जाती है। अपनी सामर्थ्य का बहुत बढ़ाकर अनुमान न लगाना सुख का एक स्रोत है : इसका मुख्य कारण भी शायद यही है कि जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का घटाकर अनुमान लगाता है उसे हमेशा अपनी सफलता पर आश्चर्य होता है, किन्तु जो व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का बढ़ाकर अनुमान लगाता है उसे बहुधा अपनी विफलता पर आश्चर्य होता है। पहले व्यक्ति का आश्चर्य सुख-दायी है जबकि दूसरे व्यक्ति का आश्चर्य दुःखदायी है। इसलिए बुद्धिमानी यही है कि मनुष्य में बहुत घमण्ड न हो यद्यपि उसे इतना अधिक निर-भिमान भी नहीं होना चाहिए कि उद्यम करने का साहस खो बैठे।

समुदाय के और अधिक शिक्षित वर्गों में वैज्ञानिकों का वर्ग इस युग में सबसे अधिक सुखी है। अधिकांश विख्यात वैज्ञानिकों में भावात्मक सरलता मिलेगी। उन्हें अपने काम से इतनी गहरी तृप्ति प्राप्त होती है कि भोजन और विवाह में भी वे आनन्द ले सकते हैं। कलाकार और साहित्य-कार अपने विवाहित जीवन में दुःखी होना अनिवार्य समझते हैं, परन्तु वैज्ञानिकों में बहुधा पुराने ढंग के घरेलू आनन्द का रसास्वादन करने की सामर्थ्य होती है। इसका कारण यह है कि उनकी बुद्धि के श्रेष्ठतर अंश का उपयोग पूर्णतः वैज्ञानिक कार्यों में होता रहता है और उसे ऐसे क्षेत्रों में दखल देने की अनुमति नहीं होती, जहाँ उनका कोई काम नहीं है। अपने काम में भी वे प्रसन्न रहते हैं क्योंकि आज के संसार में विज्ञान प्रगतिशील और शक्तिशाली है और उसके महत्त्व के विषय में न तो उन्हें कोई संदेह है और न ही जन-साधारण को। इसलिए उन्हें जटिल भावों की आवश्यकता

नहीं होती, क्योंकि उनके सरल भावों को किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। भावों की जटिलता नदी में झाग के समान है। झाग बाधाओं के कारण पैदा होता है जो प्रशांत धारा के प्रवाह को भंग कर देती हैं। परन्तु जब तक जीवनी-दायक शक्तियाँ अनवरुद्ध रहती हैं तब तक वे सतह पर कोई बुलबुला पैदा नहीं करतीं और जिस व्यक्ति ने उन्हें नहीं देखा, वह उनकी प्रचंडता का अनुमान नहीं लगा सकता।

सुख की जितनी भी शर्तें हैं वे सब-की-सब वैज्ञानिक के जीवन में पूरी हो जाती हैं। वह ऐसा कार्य करता है जिसमें उसकी योग्यताओं का पूर्ण उपयोग होता है और उसकी उपलब्धियाँ केवल उसकी दृष्टि में ही महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं, जनसाधारण भी उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, चाहे वे उनका अर्थ कुछ भी न समझ सकते हों। इस दृष्टि से वह कलाकार की अपेक्षा अधिक सौभाग्यवान् है। जब लोग किसी चित्र या कविता को नहीं समझ सकते तो यह निष्कर्ष ग्रहण कर लेते हैं कि वह चित्र या कविता घटिया दर्जे की है। जब वे सापेक्षता के सिद्धान्त को नहीं समझ सकते तो वे महसूस करते हैं (और ठीक ही महसूस करते हैं) कि उनकी शिक्षा पर्याप्त नहीं है। परिणामस्वरूप आइंस्टीन का लोग सम्मान करते हैं जबकि उत्कृष्ट चित्रकार तंग कोठरियों में भूखे मरते हैं और आइंस्टीन सुखी रहता है जबकि अन्य चित्रकार दुःखी रहते हैं। मानव जाति की संशयशीलता के विरुद्ध स्व-पक्ष-स्थापन के लिए निरन्तर संघर्ष करते हुए बहुत थोड़े लोग सच्चे सुख का अनुभव कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में वे किसी मंडली में सीमित होकर बाह्य जगत् को भुलाकर ही सुखी हो सकते हैं। वैज्ञानिक को किसी मंडली की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि केवल उसके सहकारियों को छोड़कर दूसरे सभी लोग उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। इसके विपरीत कलाकार को घृणित और घृणास्पद होने की स्थितियों में से किसी एक दुःखद स्थिति को चुनना पड़ता है। यदि उसकी योग्यताएँ प्रथम कोटि की हैं तो उसे इन दुःखद स्थितियों में से किसी एक का सामना करना ही पड़ेगा—पहली दुःखद स्थिति का अपनी योग्यताओं का उपयोग करने की

स्थिति में और दूसरी का अपनी योग्यताओं का उपयोग न करने की स्थिति में। ऐसी स्थिति हमेशा और हर जगह नहीं रही है। एक समय था जब अच्छे कलाकारों को उनकी युवावस्था में भी अच्छी दृष्टि से देखा जाता था। जूलियस द्वितीय माइकल एंजेलो से बुरा व्यवहार कर सकता था, किन्तु वह उसे चित्र बनाने के अयोग्य कभी भी नहीं समझता था। यद्यपि आज का करोड़पति बूढ़े कलाकारों पर, जब वे अपनी सारी शक्ति खो चुके हों, धन की वर्षा कर सकता है, किन्तु वह यह कभी भी नहीं कल्पना करता कि उनका काम उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसका। कदाचित् इन्हीं परिस्थितियों के कारण कलाकार वैज्ञानिकों की अपेक्षा औसतन कम सुखी हैं।

मेरी दृष्टि से यह स्वीकार करना चाहिए कि पश्चिमी देशों में अधिकांश मेधावी युवक जो दुःख अनुभव करते हैं वह उनकी श्रेष्ठ योग्यताओं का यथेष्ठ उपयोग न हो सकने के कारण उत्पन्न होता है। पूर्वी देशों में यह स्थिति नहीं है। इस समय रूस में मेधावी युवक जितने सुखी हैं सम्भवतः उतने सुखी वे विश्व के किसी और देश में नहीं हैं। उन्हें वहाँ एक नये संसार का निर्माण करना है और उनके मन में एक महान् विश्वास है जिसके अनुसार वे नये संसार का निर्माण करना चाहते हैं। पुराने लोग क़त्ल कर दिये गए, भूखे मार दिये गए या देश से निकाल बाहर किये गए, अथवा किसी और प्रकार से उनसे मुक्ति प्राप्त कर ली गई और इसलिए अब वे पश्चिम के देशों की भाँति युवकों को हानिकर कार्य करने या चुपचाप बैठे रहने पर बाध्य नहीं कर सकते। पश्चिम के अवसंस्कृत व्यक्ति को रूसी युवक का विश्वास अपरिष्कृत प्रतीत हो सकता है, किन्तु इसके विरुद्ध कहा ही क्या जा सकता है? वह एक अभिनव संसार की सृष्टि कर रहा है और यह अभिनव संसार उसके मन के अनुकूल है। जब इस नये संसार का निर्माण हो जाएगा तो रूस का साधारण व्यक्ति उसमें क्रांति से पहले की अपेक्षा अधिक सुखी रहेगा। सम्भव है कि पश्चिम के अवसंस्कृत बौद्धिक को इस संसार में

सुख न मिल सके, किन्तु पश्चिम के अवसंस्कृत बौद्धिक को वहां नहीं रहना है। इसलिए किसी भी व्यावहारिक मापदण्ड के अनुसार नये रूस का विश्वास ठीक दिखाई देगा और अपरिष्कृत समझकर उसकी निन्दा करना सिद्धान्त रूप से उचित हो तो हो, किसी और प्रकार से उसे उचित नहीं माना जा सकता।

भारत, चीन और जापान में राजनीतिक प्रकार की बाह्य परिस्थितियां बुद्धिजीवी युवकों के सुख में बाधक होती हैं, परन्तु वहां कोई ऐसी आंतरिक बाधा नहीं है जैसी कि पश्चिमी जगत में मिलती है। इन देशों में युवक कुछ विशेष कार्यों को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और जब तक इन कार्यों में सफलता मिलती रहती है तब तक वे सुखी रहते हैं। वे महसूस करते हैं कि उन्हें राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान करना है और उन्हें ऐसे लक्ष्यों के लिए काम करना है जो यद्यपि कठिन हैं किन्तु जिनकी पूर्ति असम्भव नहीं है। पश्चिमी जगत के शिक्षित युवक-युवतियों में बहुधा जो आस्थाहीनता मिलती है वह सुख-सुविधा और शक्तिहीनता के योग के कारण है। शक्तिहीनता से लोगों की यह भावना हो जाती है कि किसी भी काम का कोई लाभ नहीं है और आराम का जीवन इस भावना की पीड़ा को केवल सह्य बनाता है। सारे पूर्वी जगत में विश्वविद्यालय का छात्र पश्चिमी जगत की अपेक्षा लोकमत पर अधिक प्रभाव डालने की आशा कर सकता है, परन्तु पर्याप्त आय का साधन प्राप्त करने के लिए उसे पश्चिमी जगत की अपेक्षा बहुत कम अवसर मिलते हैं। वह न तो शक्तिहीन है और न ही उसका जीवन सुख-सुविधाओं से भरा है, इसलिए वह सुधारक या क्रांतिकारी बन जाता है, अनास्थावान नहीं। सुधारक या क्रांतिकारी का सुख राजनीतिक परिस्थितियों की गति पर निर्भर है, परन्तु फांसी के तख्ते पर भी शायद उसे जैसा सच्चा सुख मिलता है वैसा सुख आराम का जीवन बिताने वाले अनास्थावान के लिए सम्भव नहीं है। मुझे याद है कि एक बार एक चीनी युवक मेरे स्कूल में आया था। वह चीन के किसी प्रतिक्रियावादी इलाक़े में इसी प्रकार का स्कूल

खोलने के लिए घर जा रहा था। उसका अनुमान था कि वहाँ लोग उसे जान से मार डालेंगे। फिर भी वह ऐसे शांतिपूर्ण सुख का अनुभव कर रहा था जिस पर मुझे केवल ईर्ष्या ही हो सकती थी।

मेरा यह आशय नहीं है कि केवल इस प्रकार के उच्च कोटि के सुख ही सम्भव हैं। वास्तव में इस प्रकार के सुख बहुत थोड़े लोगों के लिए हैं, क्योंकि इनके लिए जैसी योग्यता और जैसी व्यापक रुचि आवश्यक होती है वह सामान्यतः लोगों में नहीं मिल सकती। केवल विख्यात वैज्ञानिकों का ही ऐसा वर्ग नहीं है जिसे अपने काम में आनन्द मिल सकता है। इसी प्रकार केवल प्रमुख राजनेताओं का ही ऐसा वर्ग नहीं है जिसे किसी आदर्श का समर्थन करने से आनन्द मिल सकता हो। काम करने का आनन्द ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है जो कोई विशिष्ट कौशल प्राप्त कर सके, किन्तु शर्त यह है कि सब लोगों की प्रशंसा का इच्छुक हुए बिना ही वह अपने कौशल के उपयोग से तुष्टि प्राप्त कर सकता हो। मैं एक व्यक्ति को जानता था जो युवावस्था में अपनी दोनों टाँगों की शक्ति खो बैठा था। परन्तु इसके बावजूद वह जीवन-भर बहुत सुखी रहा। यह सुख उसने गुलाब को होने वाले पाले के रोग पर पाँच खण्डों में एक पुस्तक लिखकर प्राप्त किया था। इस विषय के विशेषज्ञों में मैं उसे बराबर अग्रगण्य समझता था। मुझे बहुत-से शंख-वेत्ताओं से मिलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु जिनसे मैं मिला हूँ उनसे मुझे यही ज्ञात हुआ है कि जो लोग घोंघों का अध्ययन करते रहते हैं उन्हें इस कार्य में बहुत तुष्टि मिलती है। मैं एक व्यक्ति को जानता था जो दुनिया का सबसे अच्छा कम्पोजिटर था। जो लोग कलात्मक टाइपों के आविष्कार में लगे होते थे, वे सब उसकी सहायता लेना चाहते थे। उसे उन लोगों के हार्दिक सम्मान से, जो व्यर्थ ही किसी को सम्मान देने के आदी नहीं थे, इतना आनन्द नहीं मिलता था जितना वास्तविक आनन्द उसे अपने कौशल के उपयोग से मिलता था। उसका आनन्द उस आनन्द से बहुत भिन्न था जो नर्तक-नर्तकियों को

नृत्य करने में आता है। मैं ऐसे कम्पोजिटरों से भी मिला हूँ जो गणित के टाइप या नेस्टोरियन लिपि या क्युनीफ़ॉर्म अथवा किसी अन्य प्रकार के कठिन टाइप को जमाने में निपुण थे। मैंने यह मालूम नहीं किया कि वे अपने निजी जीवन में सुखी थे या नहीं, किन्तु जब तक वे अपना काम करते रहते थे तब तक उनकी रचनात्मक वृत्तियों की पूर्ण तुष्टि होती रहती थी।

सामान्य रूप से लोगों का विचार है कि इस यांत्रिक युग में पहले की अपेक्षा शिल्पी के लिए कौशलपूर्ण कार्य का आनन्द लेना कम सम्भव है। मुझे इसके सत्य होने में सन्देह है। यह सच है कि आज का कुशल कारीगर जो काम करता है, वह उन कामों से सर्वथा भिन्न है जो मध्ययुगीन गिल्डों (श्रेणियों) में होते थे, किन्तु यांत्रिक अर्थ-व्यवस्था में उसे अभी भी बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना जाता है। वैज्ञानिक उपकरण और सूक्ष्म यन्त्र तैयार करने वाले कारीगर, अभिकल्पक, हवाई जहाज के मिस्त्री, मोटर-चालक और इस प्रकार के बहुत-से दूसरे लोग अपने कौशल को किसी भी सीमा तक विकसित कर सकते हैं। अपेक्षाकृत कम उन्नत समुदायों में कृषक-श्रमिक और किसान, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, उतने सुखी नहीं हैं जितना कि मोटर-चालक या इञ्जन-चालक। यह सच है कि जो किसान अपनी ज़मीन में स्वयं खेती करता है उसके काम में विविधता होती है। वह हल चलाता है, बीज बोता है और फ़सल काटता है। परन्तु उसे प्रकृति की दया पर रहना पड़ता है और उसे अपनी इस पराधीनता का पूरा बोध रहता है, जबकि आधुनिक यन्त्र-व्यवस्था में काम करने वाले व्यक्ति को शक्ति का बोध होता है और उसकी यह भावना होती है कि मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी है, उनका दास नहीं है। यह सच है कि ऐसे बहुत-से लोगों के लिए, जो बहुत ही मामूली भेद के साथ एक ही यांत्रिक क्रिया को बार-बार दोहराते रहते हैं, काम बहुत नीरस हो जाता है, किन्तु काम जितना नीरस होता जाता है उतना ही उसे यन्त्र द्वारा करना सम्भव होता जाता है। यांत्रिक उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य, जिसकी

पूर्ति में निस्सन्देह अभी बहुत दिन लगेंगे, एक ऐसी व्यवस्था का विकास है, जिसमें प्रत्येक नीरस कार्य यन्त्र द्वारा किया जाएगा और मनुष्य केवल वही काम करेगा जिसमें विविधता हो और जिसके लिए सूझ-बूझ की आवश्यकता हो। ऐसी व्यवस्था में काम जितना कम नीरस और कम खिन्नतादायी रह जाएगा, उतना वह कृषि के प्रारम्भ से लेकर आज तक कभी नहीं था। कृषि-कार्य में प्रविष्ट होकर मानव जाति ने यह निश्चय किया कि वह भूखों मरने के खतरे को कम करने के लिए एकरसता और उकताहट के जीवन को स्वीकार करेगी। जब मनुष्य शिकार द्वारा अपना आहार प्राप्त करता था तो काम उसके लिए आनन्द का स्रोत था जैसा कि अभी भी आप धनी लोगों को पुरखों के इन मनोरंजक कार्यों में रुचि लेते देखते हैं। परन्तु कृषि के साथ ही मानव जाति की नीचता, दुःख और पागलपन का एक लम्बा इतिहास आरम्भ हुआ। मानव जाति यन्त्रों के प्रचलन के द्वारा अब इनसे मुक्त हो रही है। धरती के सम्पर्क और उपन्यासकार हार्डी के दार्शनिक कृषकों के परिपक्व ज्ञान की चर्चा करना भावुकों को शोभा दे सकता है, किन्तु गांव में रहने वाले प्रत्येक युवक की सबसे बड़ी इच्छा यही है कि उसे शहर में कोई काम मिले, जहां वह आंधी और मौसम की दासता तथा जाड़े की काली और भयानक रातों के अकेलेपन से मुक्त होकर कारखाने और सिनेमा के सुरक्षित और मानवीय वातावरण में शरण ले सके। साधारण व्यक्ति के सुख के लिए मित्रता और सहयोग अत्यन्त आवश्यक है और उद्योग में इन दोनों की सुविधाएं कृषि की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पूर्ण रूप में मिल सकती हैं।

किसी आदर्श में विश्वास रखने के कारण बहुत-से लोगों को सुख मिलता है। मैं केवल क्रांतिकारियों, समाजवादियों, उत्पीड़ित देशों के राष्ट्रवादियों और इस प्रकार के अन्य लोगों के विश्वासों के बारे में ही नहीं सोच रहा हूं। मैं बहुत-से साधारण विश्वासों के विषय में भी सोच रहा हूं। मुझे ऐसे लोग मिले हैं जिनका विश्वास था कि अंग्रेज खोये हुए

दस क़बीलों के ही लोग हैं। इन सब लोगों को मैंने बहुत सुखी पाया और जिन लोगों का विश्वास था कि अंग्रेज केवल एफ्राइम और मनस्से क़बीले के लोग हैं उनका सुख भी असीम था। मैं पाठकों को यह परामर्श नहीं दे रहा हूँ कि वे इस मत को स्वीकार कर लें क्योंकि मैं ऐसे सुख का समर्थन नहीं कर सकता, जिसका आधार झूठे विश्वासों पर हो। इसी कारण मैं पाठकों से यह विश्वास करने के लिए नहीं कहता कि मनुष्य को केवल बादाम पर रहना चाहिए, यद्यपि जहाँ तक मैंने देखा है इस विश्वास से पूरा सुख मिल सकता है। परन्तु कोई-न-कोई ऐसा आदर्श आसानी से मिल सकता है, जो किसी भी प्रकार से कल्पनातीत न हो। और जिन लोगों की इसके प्रति हार्दिक रुचि होगी, उन्हें अवकाश के समय में व्यस्त रहने के लिए एक अच्छा काम मिल जाएगा और साथ ही उनके मन में कभी यह भावना उत्पन्न न हो सकेगी कि जीवन शून्य है।

अज्ञानमूलक विश्वासों के प्रति लोगों की जैसी निष्ठा होती है कुछ उसी प्रकार की तल्लीनता शौक़ के कामों में भी होती है। इस युग के एक विख्यात गणितज्ञ ने, जो अभी जीवित हैं, गणित के अध्ययन और टिकट जमा करने के लिए अपने समय को दो बराबर भागों में बाँट रखा है। मेरे विचार में जिन क्षणों में गणित के कार्य में प्रगति करना उनके लिए सम्भव न होता होगा, उन क्षणों में टिकट-संग्रह करने के काम से उन्हें बहुत सांत्वना मिलती होगी। अंकों के सिद्धान्तों में साध्यों को सिद्ध करने की कठिनाई ही एक ऐसा दुःख नहीं है, जिसका प्रतिकार टिकट-संग्रह द्वारा सम्भव है और न केवल टिकट ही एक ऐसी चीज़ है, जिसका संग्रह किया जा सकता हो। प्राचीन चीन, नास की डिब्रियों, रोम के सिक्कों, बाणाग्रों और चकमक के औजारों के बारे में जरा सोचिए तो कल्पना में आनन्द का कितना व्यापक क्षेत्र उपस्थित हो जाता है। यह सच है कि हममें से बहुत लोग इतनी 'श्रेष्ठ कोटि' के हैं कि ये साधारण खुशियाँ हमें शोभा नहीं देतीं। लड़कपन में हम इनका रसास्वादन कर चुके हैं किन्तु किसी कारण से हम इन्हें प्रौढ़ व्यक्तियों के योग्य नहीं समझते। यह बिलकुल ग़लत बात

है। ऐसी प्रत्येक ख़ुशी को मूल्यवान् समझना चाहिए जिससे दूसरों को हानि न पहुँचती हो। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे नदियों को देखने का शौक़ है। वोलगा से यांगसी तक की यात्रा से मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ है। मुझे बहुत दुःख है कि मैं एमेजन या ओरिनीको को नहीं देख सका हूँ। ये बहुत सरल भावनाएँ हैं, किन्तु मुझे इन पर लज्जा नहीं आती। या बेसबॉल के किसी शौक़ीन के असीम आनन्द की कल्पना कीजिए। वह बड़ी उत्सुकता से समाचारपत्र उठाता है और रेडियो से भी उसे सनसनीदार ख़बरें मिलती हैं। मुझे याद है कि मैं एक बार अमेरिका के एक अग्रगण्य साहित्यिक से पहली बार मिला था। उनकी पुस्तकों को पढ़कर मैंने अनुमान लगाया था कि वह बहुत दुःखी और निराश होंगे। जिस समय मैं उनसे मिला, उस समय बेसबॉल की प्रतियोगिता के सम्बन्ध में निर्णयात्मक खेलों की सूचनाएँ रेडियो से प्रसारित की जा रही थीं। वह मुझको, साहित्य और इस पार्थिव जीवन के सभी दुःखों को भूल गए और जैसे-जैसे उनके प्रिय खिलाड़ी जीतते जाते थे, वैसे-वैसे वह ख़ुशी से चिल्ला उठते थे। इस घटना के बाद से मैं उनकी पुस्तकें उनके पात्रों के दुर्भाग्य से खिन्न हुए बिना ही पढ़ने में सफल होता रहा हूँ।

परन्तु इस प्रकार के शौक़ और सनक से बहुधा मूलभूत सुख की उपलब्धि नहीं होती। ये वास्तविकता से पलायन का साधन हैं, किसी ऐसे घोर कष्ट को एक क्षण के लिए भुलाने का साधन हैं, जिसका सामना करना बहुत कठिन हो। मूलभूत सुख जिस चीज़ पर सबसे अधिक निर्भर है, उसे हम व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति मित्रवत् रुचि कह सकते हैं।

व्यक्तियों के प्रति मित्रवत् रुचि स्नेह का ही एक रूप है परन्तु वह ऐसा स्नेह नहीं है, जिसका स्वरूप बोधगम्य एवं अधिकारात्मक हो और जो बदले में वैसा ही प्रतिदान चाहता हो। इस प्रकार का स्नेह बहुधा दुःख का कारण होता है। जिस प्रकार का स्नेह सुख में सहायक होता है, वह लोगों का निरीक्षण करना चाहता है और उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं से आनन्द प्राप्त करता है। उसका संपर्क जिन व्यक्तियों से होता है, उनकी

रुचियों और खुशियों के लिए वह सुविधाएँ प्रदान करना चाहता है और उन्हें अपने अधिकार में लेने या उनसे स्नेह-भरी प्रशंसा प्राप्त करने का इच्छुक नहीं होता। दूसरों के प्रति जिस व्यक्ति की हार्दिक मनोवृत्ति इस प्रकार की होगी उससे दूसरों को सुख मिलेगा और स्वयं वह भी दूसरों का स्नेह प्राप्त कर सकेगा। दूसरों से उसके जो सम्बन्ध होंगे, चाहे वे बहुत मामूली हों या गहरे, उनसे उसकी रुचियों और स्नेहाकांक्षाओं दोनों को ही तृप्ति मिलेगी। अपने प्रति प्रदर्शित कृतघ्नता पर उसे चिड़चिड़ाहट नहीं होगी, क्योंकि उसे शायद ही कभी इसकी पीड़ा झेलनी पड़ेगी और यदि कभी उसे अवसर आया भी तो वह इस पर ध्यान नहीं देगा। जो विलक्षणताएँ दूसरों को भयंकर रूप से क्रोधित कर देती हैं, उसके लिए तो वह मृदु मनोरंजन का स्रोत बन जाएँगी। बिना प्रयास किए ही वह ऐसी सफलताएँ प्राप्त कर लेगा जिन्हें दूसरा व्यक्ति बहुत संघर्ष के बाद भी प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं समझेगा। अपने में सुखी होने के कारण वह एक अच्छा साथी होगा और इसके कारण भी उनके सुख में वृद्धि होगी। परन्तु इन सबमें हार्दिकता होनी चाहिए। इनके मूल में कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित आत्म-त्याग का विचार नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्य की भावना काम के लिए उपयोगी होती है, किन्तु वैयक्तिक सम्बन्धों में वह घृणास्पद सिद्ध होती है। लोग चाहते हैं कि उन्हें पसन्द किया जाए। वे यह नहीं चाहते कि दूसरे लोग धैर्यपूर्वक निवृत्तिभाव से सहन करते रहें। अनेक लोगों को स्वाभाविक और अनायास रूप से चाहने में ही संभवतः वैयक्तिक सुख का सबसे बड़ा स्रोत निहित है।

मैंने ऊपर वस्तुओं के प्रति मित्रवत् रुचि की भी चर्चा की है। यह वाक्यांश सम्भवतः कृत्रिम प्रतीत हो। आप कह सकते हैं कि वस्तुओं के प्रति मित्रता की भावना असंभव है। फिर भी भूवेत्ता पत्थरों में या पुरावेत्ता खण्डहरों में जिस प्रकार की रुचि लेता है, वह मित्रवत् स्नेह से बहुत मिलती है। व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह के प्रति हमारी जो मनोवृत्ति हो, उसमें इस रुचि का समावेश होना चाहिए। वस्तुओं के प्रति ऐसी

रुचि भी सम्भव है, जो मित्रवत् न हो, बल्कि जिसमें द्वेष का अंश हो। यदि किसी व्यक्ति को मकड़ियों से घृणा हो और वह किसी ऐसे स्थान पर रहना चाहता हो जहां उनकी संख्या बहुत कम हो, तो वह मकड़ियों के वास-स्थानों के सम्बन्ध में सूचनाएं एकत्र कर सकता है। इस प्रकार की रुचि से वैसी तुष्टि प्राप्त नहीं हो सकती जैसी कि भूवेत्ता को पत्थरों से मिलती है। यद्यपि दैनिक सुख के एक अवयव के रूप में निर्वैयक्तिक वस्तुओं में रुचि लेने का सम्भवतः उतना मूल्य नहीं है जितना कि दूसरे व्यक्तियों के प्रति मित्रवत् रवैये का, फिर भी उसका महत्त्व बहुत अधिक है। संसार विस्तृत है और हमारी अपनी शक्तियां सीमित हैं। यदि हमारा सारा सुख हमारी वैयक्तिक परिस्थितियों पर ही निर्भर हो तो हमारे लिए यह कठिन होगा कि हम जीवन से इतना न मांगें, जितना देना उसके लिए सम्भव न हो। और बहुत अधिक मांगने का परिणाम निश्चय ही यही है कि जितना मिलना सम्भव हो उससे भी कम मिले। जो व्यक्ति ट्रेण्ट परिषद् या तारों का जीवन-इतिहास जैसी वस्तुओं में वास्तविक रुचि लेने से अपनी चिन्ताओं को भूल सकता हो वह महसूस करेगा कि निर्वैयक्तिक जगत् की यात्रा से लौटने के बाद उसके मन में ऐसी शान्ति और ऐसा संतुलन आ गया है जिससे उसे अपनी चिन्ताओं से निपटने में बहुत सहायता मिलती है और इसके अतिरिक्त इस बीच में उसने जो सुख अनुभव किया है वह अस्थायी होते हुए भी सच्चा था।

सुख का रहस्य यह है कि आपकी रुचियां यथासम्भव व्यापक हों और जिन वस्तुओं तथा व्यक्तियों में आप रुचि लेते हों उनके सम्बन्ध में आपकी प्रतिक्रियाएं यथासम्भव मित्रवत् हों, शत्रुवत् न हों।

सुख की सम्भावनाओं का यह प्रारम्भिक सर्वेक्षण अगले अध्यायों में विशद रूप से प्रस्तुत किया जाएगा और साथ ही दुःख के मनोवैज्ञानिक कारणों से बचने के उपाय भी बताये जाएंगे।

ग्यारहवाँ अध्याय

उत्साह

इस अध्याय में मैं उत्साह की चर्चा करूंगा, जो मेरी दृष्टि में सुखी लोगों का सबसे व्यापक और विशिष्ट लक्षण है।

उत्साह का क्या आशय है, इसे समझने का सबसे अच्छा तरीका शायद यह है कि भोजन करते समय लोगों की जो विभिन्न मनोवृत्तियाँ होती हैं उन पर विचार किया जाए। कुछ लोगों के लिए भोजन करना उकताहट मात्र है। भोजन कितना ही अच्छा क्यों न हो, उन्हें उसमें कोई रस नहीं आता। उन्हें पहले भी अच्छा भोजन मिलता रहा है; सम्भवतः वे हमेशा ही अच्छी चीजें खाते रहे हैं। भोजन न मिले तो किस प्रकार भूख एक प्रचण्ड वासना का रूप धारण कर लेती है, यह वे नहीं जानते। उनकी दृष्टि में भोजन एक औपचारिक रीति मात्र है, जिसका अनुसरण करने की आज्ञा उनके समाज ने दी है। दूसरी सभी वस्तुओं की भाँति भोजन भी अरुचिकर है, किन्तु इस पर शोर करने का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि कोई दूसरी वस्तु भी कुछ कम अरुचिकर न होगी। फिर अशक्त लोग हैं, जो कर्त्तव्य समझकर भोजन करते हैं, क्योंकि चिकित्सक ने उन्हें शक्ति प्राप्त करने के लिए पोषक वस्तुएँ खाने की सलाह दी है। कुछ भोजन-रसिक बहुत चाव से खाना आरम्भ करते हैं, किन्तु देखते हैं कि कोई भी चीज़ इतनी अच्छी बनी हुई नहीं है जितनी होनी चाहिए थी। और पेटू लोग बहुत लालच से भोजन पर झपटते हैं, बहुत ज्यादा खा लेते हैं और उन्हें रक्ताधिक्य तथा साँस फूलने की बीमारी हो जाती है। और इन सबके बाद वे लोग हैं जो खूब खुलकर भूख लगने पर खाना आरम्भ

करते हैं। इन्हें भोजन करके बहुत खुशी होती है और जी भरकर खा लेने के बाद वे अपना हाथ रोक लेते हैं। जो लोग जीवन के भोज में सम्मिलित हैं उनकी मनोवृत्तियां भी इसी प्रकार की हैं। दुःखी मनुष्य उस व्यक्ति के समान है जिसका उल्लेख मैंने आखिर में किया है। जो व्यक्ति भोजन से ऊबा हुआ है वह नियति-गत दुःख से पीड़ित व्यक्ति के समान है। कर्त्तव्य समझकर भोजन करने वाला अशक्त व्यक्ति तपस्वी से मिलता है और पेटू किसी विषयासक्त से। भोजन-रसिक की तुलना उस नाजुक दिमाग व्यक्ति से की जा सकती है, जो जीवन की आधी खुशियों को असौंदर्यात्मक समझकर उनसे मुंह फेर लेता है। अजीब बात है कि ये सभी लोग, सम्भवतः केवल पेटू को छोड़कर, उस व्यक्ति को जिसे खूब भूख लगती हो, घृणा की दृष्टि से देखते हैं और अपने-आपको उससे श्रेष्ठ समझते हैं। भोजन का इसलिए आनन्द लेना कि आप भूखे हैं या जीवन का इसलिए आनन्द लेना कि वह विविध प्रकार के रोचक दृश्य उपस्थित करता है और तरह-तरह की आश्चर्यजनक अनुभूतियां प्रदान करता है, उनकी दृष्टि में गंवारपन है। वे समझते हैं कि उन्हें कोई भ्रम नहीं है और इसी भ्रम-गरिमा में भरे वे इन भोले लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं है। विरति की अवस्था मेरी दृष्टि में एक व्याधि है। यह ठीक है कि कुछ परिस्थितियों के कारण इसका शिकार होना पड़ सकता है, किन्तु जहां तक जल्दी हो सके इससे मुक्त होने की कोशिश करनी चाहिए और इसे बुद्धिमत्ता का कोई उच्चतर रूप नहीं समझना चाहिए। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को स्ट्राबेरी बहुत अच्छी लगती है और दूसरा व्यक्ति उन्हें पसन्द नहीं करता। जो व्यक्ति इन्हें पसन्द नहीं करता वह स्ट्राबेरी पसन्द करने वाले व्यक्ति से क्योंकर ऊंचा है? स्ट्राबेरी अच्छी होती हैं या नहीं, इसका कोई अमूर्त और निर्वैयक्तिक प्रमाण देना सम्भव नहीं है। जो आदमी उन्हें पसन्द करता है, उसके लिए वे अच्छी हैं, जो उन्हें पसन्द नहीं करता उसके लिए वे अच्छी नहीं हैं। परन्तु जो आदमी उन्हें पसन्द करता है उसे एक ऐसी

खुशी मिलती है जो दूसरे आदमी को नहीं मिलती। इस हद तक उसका जीवन अधिक आनन्दपूर्ण है और वह उस संसार के अधिक अनुकूल है जिसमें दोनों को ही रहना पड़ता है। इस मामूली-से उदाहरण के लिए जो बात सही है वह अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी लागू होती है। जिस व्यक्ति को फुटबॉल का खेल देखने में आनन्द आता है वह जहाँ तक इस विशेष आनन्द का सम्बन्ध है फुटबॉल के खेल में रुचि न लेने वाले व्यक्ति से अधिक अच्छा है। जिस व्यक्ति को पुस्तकें पढ़ने का शौक़ हो वह उस व्यक्ति से और भी अधिक अच्छा है, जो पुस्तक नहीं पढ़ता, क्योंकि फुटबॉल का खेल देखने की अपेक्षा पुस्तकें पढ़ने के अवसर अधिक मिलते हैं। आदमी जितनी अधिक वस्तुओं में रुचि लेगा सुख के उतने ही अधिक अवसर उसको मिलेंगे और भाग्य के हाथों का खिलौना भी वह उतना ही कम बनेगा, क्योंकि कोई वस्तु उससे छिन भी जाए तो वह दूसरी का सहारा ले सकता है। मनुष्य का जीवन इतना कम है कि सब चीज़ों में रुचि लेना सम्भव नहीं है, फिर भी समय को ध्यान में रखते हुए हम जितनी अधिक चीज़ों में रुचि ले सकें उतना ही अच्छा है। हम सब लोग सहज ही उस अन्तर्मुख व्यक्ति की व्याधि का शिकार हो सकते हैं जो सामने फैले हुए संसार के बहुमुखी दृश्य से मुँह मोड़कर अपने भीतर के शून्य में ही खोया रहता है। परन्तु हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अन्तर्मुख व्यक्ति का दुःख किसी प्रकार महान् है।

किसी ज़माने में सॉसेज़ (खाने की चीज़) तैयार करने की दो मशीनें थीं। सूअर के मांस से स्वादिष्ट सॉसेज़ तैयार करने के लिए ये मशीनें बहुत खूबसूरती से बनाई गई थीं। इनमें से एक मशीन ने सूअर के मांस के लिए अपना स्वाद बनाए रखा और वह बहुत बड़ी मात्रा में सॉसेज़ तैयार करती रही। दूसरी मशीन ने कहा—"मेरे आगे यह सूअर क्या है? मेरी अपनी रचना सूअर से कहीं रोचक और अद्भुत है।" उसने सूअर लेने से इन्कार कर दिया और अपनी आन्तरिक व्यवस्था को समझने में लग गई। नैसर्गिक भोजन न मिल सकने के कारण उसकी आन्तरिक व्यवस्था ने काम करना

बन्द कर दिया और जितना अधिक वह उसे समझने की कोशिश करती थी, उतनी ही छूँछी और मूर्खता से भरी वह दिखाई देती थी। सुन्दर उपकरण जो अब तक सूअर को स्वादिष्ट सॉसेज में परिवर्तित करता रहा था चुपचाप खड़ा था। यह उपकरण क्या कर सकता था, मशीन इसका अनुमान भी नहीं लगा सकती थी। यह दूसरी मशीन उस व्यक्ति के समान थी जिसका उत्साह नष्ट हो चुका है। पहली मशीन की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है जिसका उत्साह जीवित है। मन एक विचित्र यंत्र है। जो सामग्री उसे मिलती है उसको वह बहुत अद्भुत रूप से संगठित कर सकता है, परन्तु बाह्य जगत् से सामग्री न मिले तो उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। सॉसेज तैयार करने की मशीन के विपरीत मन को अपनी सामग्री स्वयं ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि घटनाएँ ही हमारी रुचि के द्वारा अनुभूतियों का रूप धारण करती हैं। यदि उनमें हमारे लिए कोई रुचि न हो तो उनका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है। इस-लिए जिस व्यक्ति का स्वभाव अन्तर्मुखी हो उसे कोई विशेष बात दिखाई नहीं देती। इसके विपरीत बहिर्मुखी स्वभाव का व्यक्ति अपने भीतर—उन दुर्लभ क्षणों में जब वह अपनी आत्मा का निरीक्षण करे—अवयवों की अत्यधिक विविधतापूर्ण और रोचक समष्टि को खण्डित होते और सुन्दर या शिक्षाप्रद प्रतिमानों के रूप में पुनः संघटित होते देख सकता है।

उत्साह के अनेक प्रकार हैं। एक बार शर्लक होम्ज़ ने सड़क पर पड़ी हुई एक टोपी उठा ली और एक क्षण तक उसे देखते रहने के बाद कहा कि इस टोपी के मालिक को संसार में शराब के कारण अवनति का सामना करना पड़ा है और उसकी पत्नी भी अब उसे पहले की तरह नहीं चाहती। संयोगवश मिलने वाली वस्तुओं में जो व्यक्ति इतनी रुचि ले सकता था, उसे जीवन से कभी भी ऊब नहीं हो सकती थी। देहात में घूमते समय जिन विभिन्न वस्तुओं पर ध्यान दिया जा सकता है उनके बारे में ज़रा सोचिये। किसी की रुचि पक्षियों में हो सकती है, किसी की वनस्पति में, किसी की भूतत्त्व में और किसी की कृषि में। यदि आप

रुचि ले सकें तो इनमें से हर चीज रुचिकर हो सकती है और जिस व्यक्ति में दूसरे गुणों के साथ-साथ इनमें से किसी एक में रुचि लेने की सामर्थ्य है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा संसार के अधिक अनुकूल है जो इनमें से किसी एक में भी रुचि नहीं लेता।

दूसरे लोगों के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की जो मनोवृत्तियां होती हैं उनमें कितनी असाधारण विभिन्नता दिखाई देती है। कोई व्यक्ति रेल की लम्बी यात्रा के दौरान में अपने सहयात्रियों पर कुछ भी ध्यान नहीं दे सकेगा, जबकि कोई दूसरा व्यक्ति इन सबके बारे में मुख्य-मुख्य बातें मालूम कर लेगा, उनके चरित्र का विश्लेषण कर लेगा, उनकी परिस्थितियों का बहुत चतुरता से अनुमान लगा लेगा और शायद कुछ लोगों की बहुत-सी गुप्त बातों का भी पता चला लेगा। दूसरों के प्रति लोगों की भावनाएँ एक-दूसरे से जिस तरह बहुत भिन्न होती हैं उसी तरह वे दूसरों के सम्बन्ध में जो निश्चय करते हैं, उनमें भी बहुत अन्तर होता है। कुछ लोगों को प्रायः सभी लोगों से ऊब होने लगती है। कुछ लोगों में उनके लिए, जो उनके सम्पर्क में आते हैं, बहुत जल्दी और बड़ी आसानी से—जब तक कि किसी और भावना के लिए कोई विशेष कारण न हो—मित्रता की भावना उत्पन्न हो जाती है। यात्रा को ही लीजिए। कुछ लोग बहुत-से देशों की यात्रा करेंगे। यात्रा के दौरान में वे हमेशा सबसे अच्छे होटलों में ठहरेंगे, वही सब खाएंगे जो अपने घर में खाते रहे हैं, उन्हीं निकम्मे धनी लोगों से मिलेंगे जिनसे वे अपने देश में मिलते रहते हैं और उन्हीं विषयों पर बातचीत करेंगे जिन पर वे अपने घर में भोजन के समय करते हैं और घर लौटने पर वे चैन की सांस लेंगे कि महंगी यात्रा की ऊब से छुटकारा मिला। कुछ लोग जहाँ भी जाते हैं वहां की विशिष्ट वस्तुओं को देखते हैं, ऐसे लोगों से मिलते हैं जिनमें उस स्थान की विशेषताएँ झलकती हों, ऐतिहासिक या सामाजिक दृष्टि से जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण होता है उसे देखते हैं, उसी देश का खाना खाते हैं, उसके आचार और उसकी भाषा की जानकारी प्राप्त करते हैं और जब घर

लौटते हैं तो अपने साथ शीतकालीन सान्ध्य सम्मिलनों में चर्चा करने के लिए सुखद विचारों का एक नवीन भण्डार लाते हैं।

जिस व्यक्ति में जीवन के लिए उत्साह है, उसे इन सभी स्थितियों में—उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसका उत्साह खत्म हो चुका हो—एक विशेष सुविधा प्राप्त है। ऐसे व्यक्ति के लिए उन अनुभवों की भी उपयोगिता है जो मधुर नहीं थे। मुझे ख़ुशी है कि चीनियों की एक भीड़ और सिसली के एक गाँव का मज़ा मैंने लिया था, यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे बहुत आनन्द आया था। साहसी लोग जहाज़ नष्ट होने की दुर्घटना, विद्रोह, भूकम्प, अग्निदाह और सभी प्रकार के दुःखदायी अनुभवों में, यदि उनके स्वास्थ्य को क्षति पहुँचने की आशंका न हो, तो आनन्द लेते हैं। उदाहरण के लिए जब भूकम्प होता है तो वे अपने मन में कहते हैं—"तो भूकम्प इसे ही कहते हैं।" उन्हें यह सोचकर प्रसन्नता होती है कि उनके विश्व-सम्बन्धी ज्ञान में इससे वृद्धि हुई है। यह कहना सही नहीं होगा कि ये लोग भाग्य की दया पर नहीं रहते, क्योंकि उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाए तो शायद रस लेने की सामर्थ्य भी उनमें न रह जाए, यद्यपि ऐसा होना किसी भी तरह अवश्यम्भावी नहीं है। मैंने लोगों को धीरे-धीरे एड़ियाँ रगड़ते हुए मरते देखा है, किन्तु इसके बावजूद आख़िरी दम तक उनके उत्साह में कोई अन्तर नहीं आ सका। कुछ रोग उत्साह को नष्ट कर देते हैं और कुछ नहीं करते। मुझे नहीं मालूम है कि जीव-रसायनज्ञ इन दो प्रकार के रोगों में भेद कर सके हैं या नहीं। जब जीव-रसायन और अधिक उन्नति कर लेगा तो सम्भवतः हमें ऐसी गोलियाँ मिल सकेंगी, जो प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी रुचि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से बता सकेंगी। किन्तु जब तक यह सम्भव नहीं है तब तक हमें सामान्य बुद्धि की सहायता से ही उन कारणों को निश्चित करना पड़ेगा जो कुछ लोगों को तो हर चीज़ में रुचि लेने के योग्य बनाते हैं और कुछ लोगों को किसी भी चीज़ में रुचि न लेने पर बाध्य करते हैं।

उत्साह की प्रकृति कभी सामान्य होती है और कभी विशिष्ट।

निस्सन्देह उत्साह बहुत ही विशिष्ट प्रकार का भी हो सकता है। जिन लोगों ने बॉरो को पढ़ा है उन्हें रोमनी राइ का एक पात्र याद होगा। उसकी पत्नी, जिससे उसे बहुत प्रेम था, मर चुकी थी और कुछ दिनों तक उसे अपना जीवन बिलकुल वीरान दिखाई देता रहा। परन्तु वह चायदानियों और चाय की पेटियों पर चीनी भाषा में उत्कीर्ण लेखों में रुचि लेने लगा और फ्रेंच सीख लेने के बाद एक फ्रेंच-चीनी भाषा व्याकरण की सहायता से उसने इन लेखों को पढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली। इससे उसे जीवन में एक नया रस मिला, यद्यपि उसने चीनी भाषा-सम्बन्धी इस ज्ञान का उपयोग अन्य प्रयोजनों के लिए कभी नहीं किया। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो केवल ग्नॉस्टिक सम्प्रदाय के धर्म-विरुद्ध मत के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक बातें जानने के लिए जी-जान से प्रयास कर रहे थे। कुछ ऐसे लोगों को भी मैं जानता हूँ जिन्हें हॉब्स की पाण्डुलिपियों और पुराने संस्करणों का संग्रह और तुलना करने में विशेष रुचि थी। पहले से ही यह अनुमान लगाना सम्भव नहीं है कि मनुष्य को कौन-सी वस्तु रुचिकर लगेगी, किन्तु अधिकांश लोगों में किसी-न-किसी चीज़ में रुचि लेने की क्षमता होती है और जब एक बार किसी चीज़ में वे रुचि लेने लगते हैं तो उनका जीवन ऊकताहट से मुक्त हो जाता है। जीवन के प्रति सामान्य उत्साह बनाए रखने के कारण जितना सुख सम्भव है उतना विशिष्ट रुचियों के द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि ये किसी व्यक्ति का सारा समय शायद ही ले सकती हैं, और साथ ही यह सम्भावना भी रहती है कि व्यक्ति उस विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले, जिसमें वह रुचि ले रहा है।

आपको याद होगा कि हमने भोज में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में पेटू को भी शामिल किया था और उसकी प्रशंसा करने को हम तैयार न थे। आप सोच सकते हैं कि उत्साही व्यक्ति, जिसकी हम प्रशंसा करते रहे हैं, और पेटू में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है। अब समय आ गया है कि हम इन दोनों के अन्तर को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करें।

जैसा कि सब जानते हैं, प्राचीन काल के लोग मिताचारिता की गणना आवश्यक गुणों में करते थे। स्वच्छन्दतावाद और फ्रांस की क्रांति के प्रभाव से बहुत-से लोगों ने इसे त्याग दिया और उत्कट वासनाएँ पसन्द की जाने लगीं, चाहे ये वासनाएँ वायरन के नायकों की वासनाओं की भाँति विनाशकारी और समाज-विरोधी ही क्यों न हों। परन्तु पहले के लोगों का दृष्टिकोण सही था। अच्छे जीवन में विभिन्न क्रिया-कलापों के बीच संतुलन का होना आवश्यक है और इनमें से किसी एक पर भी इतना बल नहीं देना चाहिए कि दूसरे क्रिया-कलाप असम्भव हो जाएँ। पेटू खाने की खुशी पर अन्य खुशियों को निछावर कर देता है और इस प्रकार वह जीवन के सम्पूर्ण सुख में कमी लाता है। खाने की भाँति अन्य वासनाएँ भी अपनी चरमता तक पहुँचाई जा सकती हैं। रानी जॉजेफ़ीन किसी और दृष्टि से पेटू थी : उसे कपड़ों की लालसा थी। पहले नेपो-लियन उसके कपड़ों का बिल चुका दिया करता था, हालांकि जब भी वह बिल चुकाता था तो हर बार अपनी नापसन्दगी प्रकट करता था। अन्त में उसने रानी से कह दिया कि उसे सीमा के भीतर रहना सीखना चाहिए और भविष्य में वह बिलों की अदायगी तभी करेगा जब उनकी रक़म बहुत अधिक न होगी। इसके बाद जब जॉजेफ़ीन को कपड़ों का बिल मिला तो एक क्षण के लिए तो वह बहुत चक्कर में पड़ गई, किन्तु उसे एक तरकीब सूझ गई। वह युद्ध-मन्त्री के पास गई और युद्ध के लिए नियत धन-राशि से बिल चुकाने को कहा। मन्त्री जानता था कि रानी में उसे पदच्युत कराने की शक्ति थी, इसलिए उसने रानी की आज्ञा का पालन किया और इसके परिणामस्वरूप फ्रांस को जेनोआ हाथ से खोना पड़ा। कुछ पुस्तकों में यही बताया गया है यद्यपि मैं नहीं कह सकता कि यह कहानी बिलकुल सच्ची है। इस कहानी में पूरी सचाई हो या अतिशयोक्ति, हमारे प्रयोजन के लिए यह समान रूप से उपयुक्त है, क्योंकि इससे प्रकट होता है कि कपड़ों की लालसा किसी स्त्री को, जो उसमें लिप्त रह सकती हो, किस सीमा तक ले जा सकती है।

मद्योन्मत्त और कामोन्मत्त व्यक्ति भी इसी प्रकार की वासना के उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध में यही सिद्धान्त बहुत स्पष्ट है। हमारी अलग-अलग रुचियों और इच्छाओं को जीवन के सामान्य ढाँचे के अनुरूप होना चाहिए। उन्हें स्वास्थ्य के अनुकूल और जिन लोगों से हम प्रेम करते हैं उनके स्नेह तथा समाज के सम्मान के अनुरूप होना चाहिए। तभी वे सुख का साधन बन सकती हैं। कुछ वासनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें आप चाहे जितना भी लिप्त रहें, इन सीमाओं के उल्लंघन का डर नहीं हो सकता, किन्तु दूसरी वासनाओं के सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति शतरंज खेलने का शौक़ीन है और वह अविवाहित तथा जीविकोपार्जन की चिन्ता से मुक्त है, तो उसे अपनी इस वासना को नियंत्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि उसकी पत्नी और बच्चे हों और जीविका का कोई स्वतन्त्र साधन न हो तो उसे अपनी इस वासना पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाना होगा। बहुत ज्यादा शराब पीने वाले और पेटू लोगों पर कोई सामाजिक बन्धन न हो तो भी वे अपने हित की दृष्टि से बुद्धिमान नहीं हैं, क्योंकि उनका शौक़ उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है और कुछ क्षणों की ख़ुशी के बदले में उन्हें घण्टों कष्ट देता है। किसी भी प्रकार की वासना को कष्ट का स्रोत न बनने देने के लिए उसे कुछ परिसीमाओं के भीतर रखना आवश्यक है। ये परिसीमाएँ हैं : स्वास्थ्य, अपनी शक्तियों की सुरक्षा, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त आय, परिवार की देख-भाल जैसे परम आवश्यक सामाजिक कर्त्तव्य। जो व्यक्ति शतरंज के लिए इन सबकी उपेक्षा करता है वह वास्तव में उतना ही बुरा है जितना कि शराबी। हम उसकी बहुत कड़े शब्दों में निन्दा नहीं करते, इसका एकमात्र कारण यही है कि इस प्रकार के लोग बहुत कम होते हैं और बौद्धिक दृष्टि से इतने उन्नत खेल में कोई ऐसा व्यक्ति ही इतना तल्लीन हो सकता है जिसमें कुछ असाधारण योग्यताएँ हों। वास्तव में मिताचारिता का यूनानी सूत्र इन स्थितियों पर लागू होता है। जिस व्यक्ति

को शतरंज खेलने का इतना शौक़ है कि दिन-भर काम करते हुए वह उत्सुकता के साथ सन्ध्या की प्रतीक्षा करता रहता है, जब वह शतरंज खेल सकेगा, वह सौभाग्यवान है; किन्तु जो व्यक्ति दिन-भर शतरंज खेलने के लिए काम करना छोड़ देता है उसमें मिताचारिता के गुण का अभाव है। कहा जाता है कि तॉलस्तॉय को, जब वह छोटे थे और नैतिक दृष्टि से अभी इतने ऊँचे नहीं थे, समर-भूमि में वीरता के लिए सैनिक क्रॉस का पुरस्कार मिला था; किन्तु जब पुरस्कार भेंट करने का समय आया तो वह उस समय शतरंज के खेल में इतने निमग्न थे कि वह पुरस्कार लेने के लिए नहीं गये। हम शायद ही तॉलस्तॉय को इसके लिए दोषी ठहरा सकें; क्योंकि उनकी दृष्टि में सैनिक सम्मान का मिलना या न मिलना दोनों ही महत्त्वहीन हो सकता था, किन्तु उनसे कम उच्चकोटि का कोई व्यक्ति ऐसा करता तो यह उसकी मूर्खता होती।

अभी हमने जिस मत की स्थापना की है उसकी अपूर्णता को स्वीकार करते हुए यह मानना पड़ेगा कि कुछ कार्य इतने महान् समझे जाते हैं कि उनके लिए दूसरी सभी वस्तुओं का उत्सर्ग उचित समझा जाता है। यदि कोई व्यक्ति देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देता है और इसके परिणामस्वरूप उसकी पत्नी और बच्चों को निर्धनता का सामना करना पड़ता है तो उसे दोषी नहीं समझा जाता। यदि कोई व्यक्ति कोई महान् वैज्ञानिक अन्वेषण या आविष्कार के उद्देश्य से प्रयोग करने में लगा हुआ हो, अन्त में उसे सफलता भी मिले तो अपने परिवार को निर्धनता का दुःख सहने पर बाध्य करने के लिए उसकी निन्दा नहीं की जाती। परन्तु यदि उसे अपने अन्वेषण या आविष्कार के ध्येय में कभी सफलता प्राप्त नहीं होती तो लोग सनकी समझकर उसकी निन्दा करते हैं। ऐसा करना न्याय-संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के उद्यम में किसी को भी सफलता का पहले से विश्वास नहीं हो सकता। ईसवी सम्वत् की पहली सहस्राब्दी में जो व्यक्ति सन्त बनने के लिए अपने परिवार को त्याग देता था उसकी बहुत प्रशंसा की जाती थी, किन्तु अब

लोगों का यही विचार होगा कि ऐसा करने से पहले उसे अपने परिवार के लिए कुछ प्रबन्ध ज़रूर करना चाहिए ।

मेरे विचार में पेटू और ऐसे व्यक्ति के बीच, जिसकी क्षुधा स्वस्थ हो, सदा ही बहुत गहरा मनोवैज्ञानिक अन्तर होता है । जिस व्यक्ति की कोई एक इच्छा दूसरी सभी इच्छाओं की उपेक्षा करते हुए सीमा से बहुत आगे बढ़ जाती है, वह सामान्यतः किसी गहरे कष्ट से आक्रान्त होता है और किसी संकट से पलायन करना चाहता है । जहां तक शराबी का सम्बन्ध है यह बिलकुल स्पष्ट है। लोग भूलने के लिए शराब पीते हैं । उन्हें अपने जीवन में किसी संकट का भय न होता तो मद्योन्मत्तता उन्हें सचेतना से अच्छी नहीं लगती । जैसा कि किसी पौराणिक कथा के चीनी पात्र ने कहा है—"मैं पीने के लिए नहीं पीता, मैं तो नशे के लिए पीता हूँ ।" यह बात उन सभी एकांगी वासनाओं पर लागू होती है जो सीमा का अतिक्रमण कर चुकी हैं । इनमें किसी वस्तु की इच्छा इसलिए नहीं होती कि वह आनन्द का साधन है, बल्कि इसलिए कि उसके द्वारा विस्मृति सम्भव है । परन्तु विवेकहीन ढंग से विस्मृति चाहने और अपनी शक्तियों के उपयोग के द्वारा, जो अपने-आपमें वांछनीय है, विस्मृति चाहने में बहुत अन्तर है । बॉरो के जिस पात्र ने अपनी पत्नी की मृत्यु के दुःख को सह पाने के लिए चीनी भाषा सीखी थी, वह भी विस्मृति का ही इच्छुक था; किन्तु उसने इसके लिए जिस क्रिया का आश्रय लिया वह केवल यही नहीं कि हानिकर न थी, बल्कि उससे उसकी बुद्धिमत्ता और ज्ञान में भी वृद्धि हुई । पलायन के इन रूपों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जो व्यक्ति शराब या जुआ अथवा किसी दूसरे प्रकार की अलाभदायक उत्तेजना का आश्रय लेकर विस्मृति चाहता है, उसकी स्थिति इसके विपरीत है । यह ठीक है कि कुछ स्थितियां इनके बीच की भी हैं । ऐसे व्यक्ति के विषय में हम क्या कहेंगे जो अपने जीवन से इतना तंग आ चुका है कि हवाई जहाजों या पहाड़ों की चोटियों पर जोखिम उठाता रहता है ? यदि उसके जोखिम उठाने से कुछ लोकहित होता हो तो हम

उसकी प्रशंसा कर सकते हैं, अन्यथा उसे जुआरी और शराबी से कुछ ही ऊँची कोटि में रखना पड़ेगा।

सच्चा उत्साह—जिस हद तक दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण वह नष्ट न हो चुका हो—मानव-स्वभाव का अंश है। जो उत्साह केवल विस्मृति चाहने के लिए हो वह मानव-स्वभाव का अंग नहीं है। छोटे बालक जो कुछ भी देखते और सुनते हैं उसमें वे रुचि लेते हैं। उनके लिए संसार आश्चर्य से भरा हुआ है और वे निरन्तर उत्साह के साथ ज्ञान प्राप्त करने में लगे रहते हैं। ज्ञान का आशय विद्याओं के ज्ञान से नहीं है बल्कि उन वस्तुओं की जानकारी से है जो बच्चों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। पशुओं में बड़े होने पर भी, यदि वे स्वस्थ हों, तो उत्साह बना ही रहता है। नये कमरे में कोई बिल्ली तब तक चैन से नहीं बैठेगी, जब तक कि चूहे की गन्ध पाने के लिए वह कमरे के कोने-कोने को सूँघ नहीं लेगी। जिस व्यक्ति को कभी किसी घोर विफलता का सामना नहीं करना पड़ा है उसकी बाहरी जगत् में रुचि लेने की सामर्थ्य बनी रहेगी और जब तक उसकी स्वाधीनता में बहुत बाधाएँ उत्पन्न न कर दी जाएँ, तब तक इस सामर्थ्य के कारण उसे जीवन सुखद लगेगा। सभ्य समाज में उत्साह के अभाव का कारण स्वाधीनता पर लगाए जाने वाले वे प्रतिबन्ध हैं जो हमारी जीवन-प्रणाली के लिए आवश्यक हैं। वन्य-व्यक्ति को जब भूख लगती है तो वह शिकार करता है और इस प्रकार वह एक प्रत्यक्ष आवेग से प्रेरित होता है। जो व्यक्ति रोज सवेरे एक विशेष समय पर काम करने के लिए जाता है उसकी प्रेरणा का स्रोत भी मूलतः यही आवेग है अर्थात् जीविका प्राप्त करने की आवश्यकता, किन्तु उस पर इस आवेग का प्रभाव न तो प्रत्यक्ष होता है और न उसकी अनुभूति के क्षणों में। इसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से मानसिक भावों, विश्वासों और इच्छा-शक्तियों के माध्यम से पड़ता है। जिस समय वह काम पर जाता है उस समय वह भूखा नहीं होता, क्योंकि उसने अभी-अभी नाश्ता किया है। वह केवल यह जानता है कि भूख

फिर लगेगी और अपने काम पर जाना भावी भूख को मिटाने का साधन है। आवेग अनियमित होते हैं जबकि सभ्य समाज में आदतों को नियमित रहना पड़ता है। वन्य जातियों में जो सामूहिक प्रयास किए जाते हैं वे भी सहज और आवेगजनित होते हैं। जब क़बीला युद्ध करने के लिए जाता है तो ढोल की आवाज़ सैनिक उत्साह उत्पन्न करती है और पूरी जाति की उत्तेजना प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक कार्य की प्रेरणा देती है। आधुनिक युग में इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव नहीं है। यदि एक रेलगाड़ी को निश्चित समय पर छूटना है तो इसके लिए कुलियों, इंजन-चालक और सिग्नल देने वाले को काम के लिए वन्य जातियों के संगीत द्वारा प्रेरित करना सम्भव नहीं है। इनमें से प्रत्येक को अपना काम इसलिए करना पड़ता है कि उसे करना आवश्यक है। उन्हें अपने काम के लिए प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं मिलती। वे कार्य के प्रति कोई आवेग अनुभव नहीं करते। उनके आवेग का सम्बन्ध कार्य के फल से होता है। सामाजिक जीवन में अधिकांश इसी प्रकार का दोष मिलता है। लोग आपस में बातचीत इसलिए नहीं करते कि उन्हें एक-दूसरे से बातचीत करने की इच्छा होती है, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार के सहयोग से उन्हें अन्त में किसी लाभ की आशा रहती है। जीवन के प्रत्येक क्षण में सभ्य व्यक्ति को अपने आवेग पर लगाये गए प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता है। यदि उसके मन में खुशी की तरंग उठ रही हो तो वह सड़क पर गा या नाच नहीं सकता और यदि वह दुःखी हो तो सड़क के किनारे बैठकर रोने की स्वाधीनता उसे नहीं है, क्योंकि उससे पैदल चलने वालों का रास्ता रुक सकता है। युवावस्था में मनुष्य की स्वाधीनता पर स्कूल के प्रतिबन्ध थे और बड़े होने पर काम के घण्टे उसकी स्वाधीनता में बाधक होते हैं। इन सबसे उत्साह को बनाये रखने में बहुत कठिनाई होती है, क्योंकि निरन्तर प्रतिबन्धों के कारण क्लान्ति और उकताहट पैदा हो जाती है। फिर भी सभ्य समाज तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि स्वाभाविक आवेग को बहुत-कुछ संयत न रखा जाए,

क्योंकि स्वाभाविक आवेग सामाजिक सहयोग के बहुत सरल रूपों को ही जन्म दे सकता है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के लिए सामाजिक सहयोग के जिन उन्नत और जटिल रूपों की आवश्यकता है वे स्वाभाविक आवेग से विकसित नहीं हो सकते। उत्साह के इन बाधकों से ऊपर उठने के लिए व्यक्ति को या तो बहुत स्वस्थ और शक्तिवान् होना चाहिए या वह इतना भाग्यशाली हो कि उसका काम ही ऐसा हो जिसमें वह बहुत रुचि ले सके। जहां तक आंकड़ों से पता चलता है सभी सभ्य देशों में पिछले सौ वर्षों में स्वास्थ्य की दृष्टि से बराबर उन्नति होती रही है, किन्तु शारीरिक शक्ति के बारे में कुछ कहना कठिन है। मुझे इसमें सन्देह है कि सामान्य स्वस्थ व्यक्ति में आज उतनी ही शारीरिक शक्ति है जितनी कि पहले थी। यह समस्या बहुत हद तक सामाजिक है और इसलिए मैं इस पुस्तक में इसकी चर्चा नहीं करना चाहता। परन्तु इस समस्या का एक वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है जिसकी चर्चा हम थकान के सम्बन्ध में पहले ही कर चुके हैं। सभ्य जीवन की बाधाओं के बावजूद कुछ लोगों का उत्साह बना रहता है। बहुत-से लोगों की शक्ति का बहुत बड़ा अंश उनके आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष में लग जाता है। यदि वे इस संघर्ष से मुक्त होते तो उनका उत्साह भी बना रह सकता था। आवश्यक कार्य के लिए जितनी शक्ति पर्याप्त होती है उत्साह के लिए उससे अधिक शक्ति चाहिए और इसके लिए जरूरी है कि मन शान्त भाव से काम करता रहे। मन को शान्त भाव से काम करने की प्रेरणा देने के लिए कौन-सी बातें आवश्यक हैं, इन पर मैं अगले अध्यायों में कुछ और प्रकाश डालूंगा।

स्त्रियों में उत्साह की कमी का एक बहुत बड़ा कारण प्रतिष्ठा के विषय में उनकी भ्रांतिपूर्ण संकल्पना है। यद्यपि पहले की अपेक्षा यह विशेषता अब कम मिलती है किन्तु अभी भी बहुत है। इसे अच्छा नहीं समझा जाता था कि स्त्रियां पुरुषों में खुलकर रुचि लें या बाहर लोगों के सामने बहुत अधिक उमंग-उछाह दिखाएं। पुरुषों में रुचि न लेने की

शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने प्रायः सभी चीज़ों में रुचि लेना छोड़ दिया या एक विशेष प्रकार के नपे-तुले व्यवहार के अलावा उन्हें किसी भी चीज से कोई दिलचस्पी नहीं रही। निष्क्रियता और जीवन से निस्संग रहने की शिक्षा स्पष्टतः उत्साह की विरोधी अभिवृत्ति है और इससे अपने-आपमें डूबे रहने की ऐसी वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जो सम्भ्रान्त महिलाओं में—विशेषकर जो अशिक्षित हैं—विशेष रूप से मिलती है। उन्हें खेल-कूद से वैसी दिलचस्पी नहीं होती, जैसी सामान्यतः पुरुषों को होती है। राजनीति से उन्हें कोई लगाव नहीं होता। पुरुषों की ओर उनकी अभिवृत्ति विशुद्ध रूप से अलग-थलग बने रहने की होती है और दूसरी स्त्रियों के प्रति उनकी मनोवृत्ति ऊपरी तौर पर अप्रकट वैर की होती है, जिसके मूल में उनका यह विश्वास होता है कि अन्य स्त्रियाँ उनकी अपेक्षा कम सम्मानित हैं। वे इस पर गर्व प्रकट करती हैं कि वे सबसे अलग-थलग रहती हैं अर्थात् दूसरों में कुछ भी रुचि न लेने को वह गुण समझती हैं। इसके लिए उनको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उनका दोष तो केवल इतना है कि उन्होंने हज़ारों वर्षों से प्रचलित नैतिक शिक्षा ग्रहण की। वे तो दमन की एक प्रणाली का शिकार हैं और इसलिए दया की पात्र हैं। यह प्रणाली जिस अन्याय पर आधारित है उसे समझने में वे असमर्थ रही हैं। ऐसी स्त्रियों को हर प्रकार की अनुदारता अच्छी और हर प्रकार की उदारता बुरी दिखाई देती है। अपनी सामाजिक मण्डली में आनन्द को नष्ट करने के लिए वे जो कुछ कर सकती हैं वह तो करती ही हैं, राजनीति में भी उन्हें दमन के समर्थक क़ानून अच्छे लगते हैं। सौभाग्य से अब ऐसी स्त्रियों की संख्या कम हो रही है किन्तु अभी भी यह संख्या उन लोगों के अनुमान से कहीं ज़्यादा है जो इस प्रकार के वातावरण में नहीं रहते। जिसे मेरे इस कथन पर सन्देह हो उसे मैं परामर्श दूँगा कि वह रहने की जगह ढूंढ़ने के बहाने ऐसे कई घरों में जाए जहाँ पर इस प्रकार की व्यवस्था होती है और उस समय वह जिन मकान-मालिकिनों से मिले

उन महिलाओं को ध्यान से देखे। वह देखेगा कि ये स्त्रियाँ स्त्री-गुण की ऐसी संकल्पना के सहारे जीवन-यापन कर रही हैं, जो जीवन के सारे उत्साह को नष्ट कर देती है और इसके परिणामस्वरूप उनके मन और हृदय का विकास ही रुद्ध हो गया है। पुरुष और स्त्री के गुणों में—यदि उनकी संकल्पना ठीक हो तो—कोई अन्तर नहीं है, या कम-से-कम वैसा अन्तर तो बिलकुल नहीं है जिसे परम्परा ने हमारे मन में बठा दिया है। पुरुषों की भाँति स्त्रियों के लिए भी सुख और समृद्धि का रहस्य उत्साह में ही है।

बारहवां अध्याय

स्नेह

जीवन में उत्साह न होने का एक मुख्य कारण किसी व्यक्ति की यह भावना है कि उससे कोई स्नेह नहीं करता। इसके विपरीत व्यक्ति जब यह महसूस करता है कि उससे स्नेह किया जा रहा है तो इससे जीवन में उत्साह बनाए रखने की उसकी सामर्थ्य में जितनी वृद्धि होती है उतनी किसी और कारण से सम्भव नहीं है। हो सकता है कि कई कारणों से मनुष्य यह महसूस करने लगे कि उसे किसी का स्नेह प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि उसके मन में यह धारणा जम जाए कि वह इतना डरावना है कि सम्भवतः कोई भी उससे स्नेह नहीं कर सकता। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बाल्यावस्था में दूसरे बालकों की अपेक्षा उसे कम स्नेह मिला हो। या यह भी हो सकता है कि वास्तव में उससे कोई भी स्नेह न करता हो। परन्तु इस स्थिति के मूल में सम्भवतः आत्म-विश्वास का अभाव है, जो बाल्य-काल के किसी दुर्भाग्य के कारण व्यक्ति में उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति महसूस करता है कि लोग उससे स्नेह नहीं करते तो इसके परिणामस्वरूप उसकी अभिवृत्तियां अनेक प्रकार की हो सकती हैं। नैराश्य की अवस्था में वह असाधारण कृपा-पूर्ण आचरण के द्वारा लोगों का स्नेह प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में उसके विफल होने की ही आशा की जा सकती है, क्योंकि जिन लोगों पर कृपा की जाती है वे आसानी से इस कृपा के प्रयोजन को समझ लेते हैं। मानव-प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि वह अपना स्नेह उन लोगों को तुरन्त दे देती है, जो इसके कम-से-कम इच्छुक

प्रतीत होते हैं। इसलिए जो व्यक्ति परोपकार द्वारा स्नेह प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका भ्रम मनुष्य की अकृतज्ञता को देखकर दूर हो जाता है। उसके मन में यह बात कभी नहीं आती कि जिस स्नेह को वह भौतिक लाभ के बदले खरीदना चाहता है वह इससे कहीं अधिक मूल्यवान है, फिर भी उसके आचरण के मूल में इस वास्तविकता का बोध रहता है। कोई अन्य व्यक्ति यह देखकर कि उससे कोई स्नेह नहीं करता, संसार से बदला लेना चाह सकता है और इसके लिए वह युद्ध या क्रान्ति करवा सकता है या डीन स्विफ़्ट की भाँति कटुतापूर्ण लेखन का आश्रय ले सकता है। यह दुर्भाग्य के विरुद्ध एक वीरोचित प्रतिक्रिया है और इसके लिए व्यक्ति में ऐसा चरित्र-बल आवश्यक है जिससे वह सारे संसार के मुक़ाबले पर खड़ा हो सके। बहुत थोड़े लोग इतने ऊँचे धरातल तक पहुँच सकते हैं। अधिकांश स्त्री-पुरुष जब यह देखते हैं कि लोग उन्हें नहीं चाहते, तो उनमें भीरुता और निराशा आ जाती है और इस दुःख में कभी कोई कमी होती है तो ईर्ष्या और द्वेष के प्रदर्शन के द्वारा ही। प्रायः ऐसे लोगों का जीवन अत्यन्त आत्म-केन्द्रित हो जाता है और स्नेह का अभाव उनमें अरक्षा की भावना उत्पन्न कर देता है, जिससे वे स्वभावतः मुक्ति पाना चाहते हैं और ऐसा कर पाने के लिए वे अपने जीवन को पूरी तौर पर अभ्यास का अनुचर बना लेते हैं। जो लोग अपने-आपको एक अपरिवर्तनशील अभ्यास का दास बना लेते हैं, उन्हें सामान्य रूप से प्रेम-रहित बाह्य जगत् का भय रहता है और वे समझते हैं कि जिस मार्ग पर वे पहले कई दिनों से चलते रहे हैं, उसी पर चलते रहें तो इस बाह्य जगत् से टकराने से बच सकते हैं।

जो लोग अरक्षा की भावना के साथ जीवन का सामना करते हैं, उनकी अपेक्षा वे लोग कहीं अधिक सुखी रहते हैं जो जीवन का सामना सुरक्षा की भावना के साथ करते हैं। कम-से-कम उस समय तक तो वे अधिक सुखी रहते ही हैं जब तक कि सुरक्षा की भावना उन्हें किसी संकट की ओर नहीं ले जाती। और सुरक्षा की भावना हमेशा तो नहीं,

लेकिन अकसर ऐसे खतरों से बचने में सहायक होगी जिनके आगे कोई और व्यक्ति घुटने टेक देगा। यदि आप किसी खाई को एक पतली पटरी पर चलकर पार कर रहे हों तो निडर होकर चलने में आपके गिरने की उतनी सम्भावना नहीं होगी, जितनी कि डरते हुए चलने में। और यही बात जीवन-व्यवहार पर भी लागू होती है। हो सकता है कि निर्भय व्यक्ति को किसी आकस्मिक विपत्ति का सामना करना पड़े, किन्तु वह बहुत-सी ऐसी कठिन परिस्थितियों से सही-सलामत निकल आ सकता है जो किसी डरपोक व्यक्ति को बहुत दुःख पहुँचा सकती हैं। इस प्रकार के उपयोगी आत्म-विश्वास के अनेक रूप हैं। कोई व्यक्ति पहाड़ों पर आत्म-विश्वास अनुभव करता है, कोई समुद्र में और कोई हवा में। परन्तु जीवन में सामान्य आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न करने में जो चीज सबसे अधिक सहायक होती है वह यह है कि व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार ठीक प्रकार का स्नेह बराबर मिलता रहे और प्रस्तुत अध्याय में मैं इसी मनोवृत्ति की—जो उत्साह का एक स्रोत है—चर्चा करना चाहता हूँ।

सुरक्षा की भावना उस स्नेह से उत्पन्न होती है जो हमें दूसरों से मिलता है, उस स्नेह से नहीं जो हम दूसरों को देते हैं, यद्यपि यह प्रायः परस्पर स्नेह से ही पैदा होती है। वास्तव में केवल स्नेह का ही नहीं बल्कि प्रशंसा का भी यही प्रभाव होता है। जिन लोगों का व्यवसाय ही इस प्रकार का हो कि उन्हें लोक-प्रशंसा मिलती हो—जैसे अभिनेता, प्रचारक, वक्ता और राजनीतिज्ञ—वे लोक-प्रशंसा पर अधिकाधिक आश्रित होने लगते हैं। जब तक उन्हें लोगों की यथोचित प्रशंसा मिलती रहती है तब तक उनमें बहुत उत्साह रहता है। जब उनकी प्रशंसा नहीं की जाती तो वे असन्तुष्ट और आत्म-केन्द्रित हो जाते हैं। समुदाय के विकीर्ण अनुग्रह का उन पर वही प्रभाव होता है जो दूसरों पर थोड़े लोगों के पुंजीभूत स्नेह का होता है। जिस बच्चे को माता-पिता का स्नेह प्राप्त होता है वह इस स्नेह को प्रकृति का नियम समझता है। यद्यपि उसके

सुख के लिए इस स्नेह का बहुत महत्त्व है, फिर भी वह इसके सम्बन्ध में अधिक नहीं सोचता। वह संसार के बारे में सोचता है। वह उन साहसिक कार्यों के बारे में सोचता है जिनका उसे सामना करना पड़ा है और उन कार्यों के बारे में भी जो इनसे अधिक साहसपूर्ण होंगे और जिनका सामना उसे बड़ा होने पर करना पड़ेगा। परन्तु इन सभी बाहरी रुचियों के पीछे उसकी यही भावना होती है कि पैतृक स्नेह संकट से उसकी रक्षा करेगा। जो बालक किसी कारण से पैतृक स्नेह से वंचित हो जाता है वह डरपोक और साहसहीन बन सकता है। उसके मन में भय भर सकता है और उसे अपने-आप पर दया भी आ सकती है। इससे वह एक आनन्दपूर्ण खोज के मनोभाव के साथ संसार का सामना करने के योग्य नहीं रहता। ऐसा बालक बहुत छोटी उम्र ही में जीवन और मृत्यु तथा मानव-भाग्य की समस्याओं पर सोच सकता है। वह अन्तर्मुखी स्वभाव का व्यक्ति बन जाता है और यद्यपि प्रारम्भ में वह विषादग्रस्त रहता है, किन्तु अन्ततः किसी दार्शनिक या धार्मिक प्रणाली के मिथ्या सन्तोष का आश्रय लेने लगता है। संसार एक ऐसा स्थान है जहाँ वस्तुएँ किसी क्रम से नहीं रखी हुई हैं और जिसकी सुखद तथा दुःखदायी वस्तुओं का अनुक्रम केवल आकस्मिक है। इसके आधार पर किसी बोधगम्य प्रणाली या पैटर्न का निर्माण करने की इच्छा मूलतः भय का ही परिणाम है। वास्तव में यह भय एक प्रकार की विवृत-भीति या खुले स्थानों का डर है। अपने पुस्तकालय की चहारदीवारी में भीरु छात्र अपने-आपको सुरक्षित अनुभव करता है। यदि वह अपने-आपको यह विश्वास दिला सके कि बाहरी जगत् भी इतना ही स्वच्छ है तो बाहर जोखिम का काम करने में वह अपने-आपको लगभग समान रूप से सुरक्षित समझ सकता है। इस प्रकार के व्यक्ति को यदि अधिक स्नेह मिला होता तो उसे वास्तविक संसार का इतना भय न होता और उसे अपने विश्वासों में स्थान देने के लिए एक काल्पनिक संसार को गढ़ने की आवश्यकता न पड़ती।

परन्तु सभी प्रकार का स्नेह साहसशीलता को प्रोत्साहन देने में सहायक नहीं होता। जो स्नेह दिया जाए स्वयं उसमें भीरुता नहीं होनी चाहिए, बल्कि शक्ति होनी चाहिए और उसे अपने पात्र की श्रेष्ठता को उसकी सुरक्षा से भी अधिक महत्त्व देना चाहिए, यद्यपि किसी भी प्रकार से सुरक्षा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो भीरु माता या परिचारिका बच्चों को हमेशा सम्भाव्य दुर्घटनाओं से सावधान करती रहती है और जो समझती है कि हर कुत्ता काट लेगा या हर गाय सांड है, वह उनको अपने ही जैसा भीरु बना देती है और उन्हें यह महसूस करने पर बाध्य कर सकती है कि वे उसके निकट रहकर ही सुरक्षित रह सकते हैं। यदि किसी माँ का स्वभाव अनुचित रूप से अधिकार चाहने वाला हो तो सम्भव है कि बच्चे की यह भावना उसके मनोनुकूल हो। सम्भव है कि वह उसे संसार का सामना करने में समर्थ देखने की इतनी इच्छुक न हो जितनी उसे अपने ऊपर आश्रित देखने की। ऐसा होने पर बालक की स्थिति आगे चलकर उससे कहीं बुरी हो सकती है जिसकी सम्भावना स्नेह न मिलने के कारण की जा सकती थी। छोटी अवस्था में जो मानसिक रचना हो जाती है वह सम्भवतः आजीवन बनी रहती है। बहुत-से लोग जब प्रेम करते हैं तो वे संसार से शरण लेने के लिए एक ऐसा आश्रय चाहते हैं जहाँ उन्हें यह विश्वास हो सके कि वे पसन्द किए जाते हैं और प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते हैं जबकि वे न तो पसन्द किए जाने योग्य हैं और न ही प्रशंसा के पात्र। बहुत-से लोगों के लिए घर सत्य से बचने के लिए एक शरणागार होता है। अपने भय और भीरुता के कारण उन्हें ऐसे संग में आनन्द आता है जिसमें उनकी ये भावनाएँ सुषुप्त रहती हैं। वे अपनी पत्नियों से वही चाहते हैं जो पहले एक विवेकहीन माता से उन्हें मिल चुका है और इसके बावजूद जब उनकी पत्नियाँ उन्हें वयस्क बालक समझती हैं तो उन्हें बहुत आश्चर्य होता है।

स्नेह का सबसे अच्छा रूप क्या है, यह बताना सरल नहीं है क्योंकि उसमें रक्षात्मक भावना का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य होगा। हम जिन

लोगों से स्नेह करते हैं उनके कष्ट के प्रति उदासीन नहीं रहते। परन्तु मेरे विचार में स्नेह में दुर्घटना की आशंका को कम-से-कम स्थान मिलना चाहिए। जो दुर्घटनाएँ घट चुकी हों उनके कारण होने वाली सहानुभूति से यह आशंका सर्वथा भिन्न है। दूसरों के लिए डरते रहना अपने लिए डरते रहने से कुछ ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त यह वहुधा दूसरों को अपने वश में कर पाने की वृत्ति का आवरण भी होता है। आशा की जाती है कि उनके भय को जागृत करने से उन पर अधिक सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता है। पुरुष भीरु स्त्रियों को क्यों पसन्द करते रहे हैं, इसका एक कारण यह भी है। उनकी रक्षा करके उन्होंने उन पर पूरा प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। कोई व्यक्ति अपने-आपको हानि पहुँचाए विना किस हद तक दूसरों की शुभ चिन्ता का केन्द्र वन सकता है यह उसके चरित्र पर निर्भर है। परिश्रमी और साहसशील व्यक्ति हानि उठाये विना वहुत-कुछ सहन कर सकता है, जवकि किसी भीरु व्यक्ति को इस सम्वन्ध में वहुत-थोड़ी आशा रखनी चाहिए।

किसी व्यक्ति को जो स्नेह मिलता है उसके दो पक्ष हैं। अव तक हमने सुरक्षा के प्रसंग में इसकी चर्चा की थी, किन्तु वयस्क जीवन में इसका और भी अधिक महत्त्वपूर्ण जैविक प्रयोजन है और वह है पितृत्व। यौन प्रेम की प्रेरणा देने में असमर्थ होना किसी भी पुरुष या स्त्री के लिए वहुत वड़ा दुर्भाग्य है, क्योंकि यह उसे जीवन के सवसे वड़े सुखों से वंचित कर देता है। इन सुखों से वंचित हो जाने के कारण शीघ्र ही या कुछ समय के वाद उसका उत्साह नष्ट हो जाएगा और उसका स्वभाव अंत-र्मुखी वन जाएगा। वहुधा वाल्यावस्था की दुर्घटनाएँ चरित्र में ऐसे दोष उत्पन्न कर देती हैं जिनके कारण आगे चलकर प्रेम प्राप्त करने में विफ-लता का सामना करना पड़ता है। यह वात स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक चरितार्थ होती है, क्योंकि स्त्रियाँ पुरुषों से उनके चरित्र के कारण प्रेम करती हैं जवकि पुरुष स्त्रियों को उनके रूप के कारण चाहते हैं। इस विषय में पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा कम अच्छे होने का परिचय देते हैं,

क्योंकि पुरुष स्त्रियों में जिन गुणों को देखना चाहते हैं वे उन गुणों की अपेक्षा कम वांछनीय हैं जिन्हें स्त्रियाँ पुरुषों में देखना पसन्द करती हैं। मैं पूरे विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि अच्छे रूप की अपेक्षा अच्छा चरित्र प्राप्त करना अधिक सरल है। कम-से-कम यह तो सच है कि अच्छे रूप के लिए जो कुछ करना आवश्यक है उसे समझने और करने में स्त्रियाँ जितनी कुशलता और तत्परता का परिचय देती हैं, उतनी कुशलता और तत्परता चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक कार्यों को समझने और करने में पुरुष नहीं दिखलाते।

अब तक हम ऐसे स्नेह की चर्चा करते रहे हैं, जो किसी व्यक्ति को दूसरे से मिलता है। अब मैं उस स्नेह के बारे में लिखना चाहता हूँ जो एक व्यक्ति किसी दूसरे को देता है। इस स्नेह के भी दो विभिन्न प्रकार हैं। इनमें से एक तो कदाचित् जीवन के प्रति उत्साह की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है जबकि दूसरा भय की अभिव्यक्ति है। पहले प्रकार का स्नेह मेरी दृष्टि में पूर्ण रूप से प्रशंसनीय है, जबकि दूसरा अधिक-से-अधिक अपनी सांत्वना के लिए है। यदि आप किसी अच्छे दिन में जहाज में बैठकर समुद्र के सुन्दर तट से गुज़र रहे हों तो आपको तट बहुत अच्छा लगेगा और आपको बहुत खुशी का अनुभव होगा। यह खुशी आपको बाहरी दिशा में देखने से प्राप्त हुई है और इसका आपके जीवन की किसी मुख्य आवश्यकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत यदि आपका जहाज विनष्ट हो जाए और आप तैरते हुए तट की ओर बढ़ने लगें तो आपके मन में तट के लिए एक विशेष चाह उत्पन्न हो जाएगी। वह आपके लिए तरंगों से रक्षा का एक प्रतीक बन जाता है और उसकी सुन्दरता या कुरूपता का कोई महत्त्व नहीं रहता। उत्तम प्रकार का स्नेह उस व्यक्ति की भावना के समान है जिसका जहाज सुरक्षित है। और अपेक्षाकृत कम उत्तम स्नेह उस व्यक्ति की भावना के समान है जिसका जहाज़ विनष्ट हो चुका है और जो तट की ओर तैर रहा है। पहले प्रकार का स्नेह व्यक्ति के लिए तभी सम्भव है जबकि वह अपने-आपको

सुरक्षित समझता हो या कम-से-कम आने वाले खतरों की परवाह न करता हो। अरक्षा से उत्पन्न होने वाली भावना दूसरी भावना की अपेक्षा बहुत अधिक आत्म-परक और आत्म-केन्द्रित होती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में स्नेह-प्राप्त व्यक्ति को जो महत्त्व दिया जाता है वह उसकी सेवाओं के कारण है, उसके आन्तरिक गुणों के कारण नहीं। परन्तु मेरा आशय यह नहीं है कि इस प्रकार के स्नेह का जीवन में कोई उचित स्थान नहीं है। वास्तव में सभी वास्तविक स्नेह में दोनों प्रकार के स्नेह का कुछ-न-कुछ अंश होता है और जहाँ तक स्नेह वस्तुतः अरक्षा की भावना का प्रतिकार करता है वहाँ तक वह व्यक्ति में संसार के प्रति रुचि की ऐसी भावना भी उत्पन्न करता है जो खतरे और भय के क्षणों में छिपी रहती है। परन्तु जीवन में इस प्रकार के स्नेह के स्थान को स्वीकार करते हुए भी हमें यही मानना चाहिए कि यह स्नेह उतना अच्छा नहीं है जितना कि दूसरे प्रकार का स्नेह, क्योंकि यह भय पर आश्रित है—और भय बहुत बुरी वस्तु है तथा अधिक आत्म-केंद्रित है। सर्वोत्तम स्नेह वह है जिसमें व्यक्ति को पुराने दुःख से पलायन करने की अपेक्षा एक नये सुख की आशा रहती है।

सर्वोत्तम स्नेह परस्पर रूप से जीवनदायी होता है। प्रत्येक व्यक्ति स्नेह को सहर्ष स्वीकार करता है और सहज रूप से दूसरों को अपना स्नेह देता है। इस परस्पर सुख के कारण प्रत्येक व्यक्ति को दुनिया अधिक सरस दिखाई देती है। एक और प्रकार का स्नेह भी देखने को मिलता है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की जीवन्त शक्ति का शोषण करता है। दूसरा जो कुछ देता है उसे वह ग्रहण तो कर लेता है किन्तु उसके बदले में वह कुछ भी नहीं देता। कुछ बहुत शक्तिशाली व्यक्ति इसी शोषक वर्ग में आते हैं। वे एक के बाद दूसरे का रक्त चूसते रहते हैं और जहाँ उनकी उन्नति और आकर्षण में वृद्धि होती रहती है वहाँ वे लोग, जिन पर ये आश्रित हैं, पीले, निष्प्रभ और हतोत्साह होते जाते हैं। इस प्रकार के लोग दूसरों का अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए

इस्तेमाल करते हैं और उनकी दृष्टि में इन प्रयोजनों से अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। ये लोग जिन लोगों को कुछ समय के लिए अपने स्नेह का पात्र समझते हैं उनसे उन्हें मूलतः कोई रुचि नहीं होती। वे केवल अपने क्रियाकलापों के उद्दीपन में ही रुचि लेते हैं और ये क्रियाकलाप कदाचित् सर्वथा निर्वैयक्तिक प्रकार के होते हैं। स्पष्ट ही है कि इसका कारण उनके स्वभाव का कोई दोष है, किन्तु इस दोष का पता चलाना या प्रतिकार करना कुछ आसान नहीं है। मानव-स्वभाव की इस विशेषता का सम्बन्ध बहुधा किसी महत्त्वाकांक्षा से होता है और मेरे विचार से इसकी जड़ें मानव-सुख की ऐसी संकल्पना में निहित हैं, जो अनुचित रूप से एकांगी है। ऐसा स्नेह, जो दो व्यक्तियों की एक-दूसरे के प्रति वास्तविक रुचि का द्योतक हो और जो केवल एक-दूसरे के हित का साधन न होकर समान हित के लिए सम्मिलित प्रयास हो, वह सच्चे सुख का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस व्यक्ति का अहम् संकीर्ण परिधि में इस प्रकार सीमाबद्ध हो कि यह व्यापकता सम्भव ही न हो, वह भौतिक दृष्टि से बहुत-कुछ सफल होने के बावजूद जीवन के सबसे बड़े वरदान से वंचित रहता है। जिस महत्त्वाकांक्षा में स्नेह के लिए कोई स्थान नहीं होता, वह सामान्यतः मानव-जाति के प्रति किसी रोष या घृणा का परिणाम होती है। युवावस्था में कोई दुःख उठाने या बाद के जीवन में किसी अन्याय का शिकार बनने के कारण अथवा उत्पीड़न-उन्माद की ओर ले जाने वाले किसी कारण से ही मानव-जाति के प्रति रोष या घृणा की भावना उत्पन्न होती है। अत्यधिक अहम् एक कारागार के समान है और जो व्यक्ति संसार का पूरा आनन्द लेना चाहता है उसके लिए इस कारागार से मुक्त होना आवश्यक है। सच्चे स्नेह की सामर्थ्य उस व्यक्ति का लक्षण है जो अहम् के कारागार से मुक्त हो चुका है। केवल स्नेह प्राप्त कर लेना किसी भी प्रकार से पर्याप्त नहीं हो सकता। जो स्नेह मिले उसे उस स्नेह को उन्मुक्त भी करना चाहिए जो दिया जाने वाला है। और जहाँ ये दोनों समान मात्रा

में उपलब्ध होते हैं वहां पर ही स्नेह की श्रेष्ठतम उपलब्धियां सम्भव हैं।

परस्पर स्नेह के विकास में जो मनोवैज्ञानिक और सामाजिक बाधाएं उत्पन्न होती हैं उनसे बहुत हानि पहुंचती है और उनसे संसार को हमेशा बहुत कष्ट उठाना पड़ा है और आज भी उठाना पड़ रहा है। लोग प्रशंसा करने में बहुत संकोच से काम लेते हैं, क्योंकि वे डरते हैं कि उनकी प्रशंसा कहीं गलत न साबित हो जाए। उन्हें किसी व्यक्ति से स्नेह करते हुए संकोच होता है, क्योंकि वे डरते हैं कि कहीं उन्हें उस व्यक्ति या छिद्रान्वेषी संसार के कारण दुःख न उठाना पड़े। नैतिकता और सांसारिक बुद्धिमत्ता दोनों ही सावधानी को बहुत महत्त्व देती हैं और इसके परिणामस्वरूप जहां तक स्नेह का सम्बन्ध है उदारता और साहसशीलता को पसन्द नहीं किया जाता है। इससे भीरुता और मानव-जाति के प्रति रोष की भावना उत्पन्न करने में ही सहायता मिलती है, क्योंकि बहुत-से लोग जीवन-पर्यन्त एक ऐसी वस्तु से वंचित रहते हैं जो उनके लिए वास्तव में मूल आवश्यकता है और जो दस में नौ व्यक्तियों के लिए संसार के प्रति एक सुखद और उदार मनोवृत्ति रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह नहीं समझना चाहिए कि जिन लोगों को भ्रष्टाचारी कहा जाता है वे इस विषय में सदाचारी लोगों से अधिक अच्छे हैं। प्रायः यौन सम्बन्ध में सच्चे स्नेह का कोई अंश नहीं होता और अकसर इसमें मूलतः प्रतिकूलता भी होती है। प्रत्येक स्त्री या पुरुष की यही कोशिश रहती है कि वह पराजित न होने पाए। प्रत्येक मूल एकाकीपन की रक्षा में लगा रहता है, किसी की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता और इसलिए किसी को भी सफलता नहीं मिलती। ऐसी अनुभूतियों का कोई आधारभूत मूल्य नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि उनसे सावधानीपूर्वक बचते रहना चाहिए, क्योंकि इसके लिए जो उपाय आवश्यक हैं वे उन स्थितियों में भी बाधक हो सकते हैं जिनमें अधिक मूल्यवान् और गहरे स्नेह की सम्भावना हो सकती है। परन्तु मेरा यह विचार अवश्य है कि जिन यौन सम्बन्धों का वास्तव में कोई मूल्य है,

उनमें पुरुष-स्त्री एक-दूसरे से अपना कुछ भी नहीं छिपाते और दोनों के व्यक्तित्व एक-दूसरे में विलीन होकर एक नये व्यक्तित्व की सृष्टि करते हैं। सावधानी के जितने भी प्रकार हैं उनमें प्रेम-सम्बन्ध में की जाने वाली सावधानी सच्चे सुख के लिए सबसे अधिक घातक है।

तेरहवां अध्याय

परिवार

अतीत से हमें जितनी भी संस्थाएं मिली हैं उनमें परिवार इस समय सबसे अधिक अव्यवस्थित और गतिहीन है। माता-पिता और बच्चों का परस्पर स्नेह सुख का बहुत बड़ा स्रोत बन सकता है, किन्तु वास्तव में आज-कल माता-पिता और बच्चों के परस्पर सम्बन्ध दस में से नौ स्थितियों में दोनों पक्षों के लिए और सौ में निन्यानवे स्थितियों में कम-से-कम एक पक्ष के लिए दुःख का कारण बने हुए हैं। हमारे युग में व्यापक असन्तोष का एक अन्तर्निहित कारण यह भी है कि परिवार में जो मौलिक सन्तोष प्रदान करने की सामर्थ्य है उसे देने में वह विफल रहा है। जो व्यक्ति अपने बच्चों से अच्छे सम्बन्ध रखना चाहता है या उनके लिए एक सुखी जीवन की व्यवस्था करना चाहता है, उसे पितृत्व की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और अच्छी तरह विचार कर लेने के उपरान्त बुद्धिमत्ता से काम करना चाहिए। परिवार का विषय इतना व्यापक है कि इस पुस्तक में उसके सभी अंगों का विवेचन सम्भव नहीं है। यहां तो हम इस विषय की चर्चा अपनी विशेष समस्या अर्थात् सुख की सिद्धि की सीमा में रहते हुए ही कर सकते हैं और इस समस्या के सम्बन्ध में भी हम इस विषय पर उसी हद तक विचार कर सकते हैं, जिस हद तक एक व्यक्ति समाज के ढांचे में कोई परिवर्तन लाए बिना कुछ सुधार कर सकता है।

निस्सन्देह यह बहुत बड़ा बन्धन है क्योंकि हमारे युग में पारिवारिक दुःख के कारण अनेक प्रकार के हैं। ये मनोवैज्ञानिक भी हैं और

आर्थिक भी, सामाजिक भी हैं और शैक्षिक तथा राजनैतिक भी। जहाँ तक समुदाय के समृद्ध वर्गों का सम्बन्ध है, उनमें स्त्रियाँ माँ बनने को बहुत बड़ा बोझ समझने लगी हैं। पहले कभी भी स्त्रियाँ इसे इतना बड़ा बोझ नहीं समझती थीं। इसके दो कारण हैं: एक कारण तो यह है कि अविवाहित स्त्रियों को नौकरी की सुविधाएँ मिलने लगी हैं और दूसरा कारण है घर के काम-काज के लिए अच्छे नौकरों का न मिलना। पुराने जमाने में अविवाहित स्त्रियों की असह्य परिस्थितियों को देखकर स्त्रियाँ विवाह करने को तैयार हो जाती थीं। अविवाहित स्त्री को घर में आर्थिक पराधीनता का जीवन बिताना पड़ता था। पहले वह अपने पिता पर आश्रित रहती थी और उसके बाद अपने किसी भाई पर जो उसे अपने साथ रखना नहीं चाहता था। अपने-आपको व्यस्त रखने के लिए उसके पास कोई साधन न थे और घर की चहारदीवारी के बाहर मनोरंजन करने की स्वाधीनता भी उसको नहीं थी। यौनाकांक्षा की तृप्ति का न तो उसके लिए अवसर था और न ही इस ओर उसकी कोई प्रवृत्ति थी, क्योंकि विवाह को छोड़कर किसी और स्थिति में स्वयं वह इसे बहुत बुरा समझती थी। यदि इतने उपायों के बावजूद किसी चालाक प्रेमी के छल में आकर वह अपना सतीत्व खो बैठती थी तो उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय होती थी। 'द विकार ऑफ़ वेकफ़िल्ड' में उसकी स्थिति का बहुत यथार्थ चित्रण हुआ है:

> अपने पाप को ढकने के लिए
> अपनी निर्लज्जता को प्रत्येक दृष्टि से छिपाने के लिए,
> अपने प्रेमी को अनुतप्त करने के लिए
> और उसे अपनी छाती कूटने पर बाध्य करने के लिए
> एक ही युक्ति है—मृत्यु।

आज की अविवाहित स्त्री ऐसी परिस्थितियों में मरना आवश्यक नहीं समझती। यदि उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है तो आराम का जीवन बिताने के लिए कोई अच्छी नौकरी प्राप्त करने में उसे कुछ भी कठिनाई

नहीं होती। इसलिए वह माता-पिता की इच्छा के अधीन नहीं है। चूँकि माता-पिता अपनी लड़कियों पर अपना आर्थिक प्रभुत्व खो चुके हैं, इसलिए नैतिक दृष्टि से उनकी निन्दा करने के विषय में वे अब बहुत ज्यादा सावधानी बरतने लगे हैं। जब कोई व्यक्ति डांट सुनने के लिए ठहरे ही न, तो फिर उसे डांटने का कोई विशेष लाभ नहीं है। इसलिए नौकरी करने वाली अविवाहित स्त्री—यदि उसमें साधारण बुद्धि और आकर्षण का अभाव न हो—तब तक मनोनुकूल जीवन का आनन्द ले सकती है, जब तक वह अपने-आपको सन्तति की इच्छा से मुक्त रख सके। परन्तु जब यह इच्छा उसे अभिभूत कर लेती है तो उसे विवाह करना पड़ता है और इसके साथ ही उसे अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ता है। वह जिस जीवन-स्तर की आदी रही है वह विवाह के बाद बहुत गिर जाता है, क्योंकि उसके पति की आय सम्भवतः उसकी आय से कुछ अधिक नहीं होती और इस आय से उसे अब एक स्त्री का नहीं बल्कि पूरे परिवार का खर्च चलाना पड़ता है। चूंकि वह आर्थिक स्वाधीनता का आनन्द ले चुकी है, इसलिए खर्च के एक-एक पैसे के लिए दूसरे का मुँह ताकना उसे बहुत बुरा लगता है। इन्हीं कारणों से ऐसी स्त्रियाँ माँ बनने से बहुत झिझकती हैं।

फिर भी यदि कोई स्त्री माँ बनना स्वीकार कर लेती है तो उसे एक ऐसी भीषण समस्या का सामना करना पड़ता है जिसका सामना पहले स्त्रियों को कभी नहीं करना पड़ता था। यह समस्या है नौकर-नौकरानियों की कमी और उनके खराब काम-काज की। इसका परिणाम यह होता है कि वह घर में बंध जाती है और उसे ऐसे हजारों छोटे-मोटे काम करने पड़ते हैं जो उसकी योग्यता और शिक्षा को देखते हुए उसे शोभा नहीं देते, या अगर वह ये काम स्वयं नहीं करती तो नौकरानियों को डांटते-फटकारते रहने के कारण उसे चिड़चिड़ा होना ही पड़ता है। बच्चों की देख-भाल के विषय में यदि उसकी जानकारी बहुत अच्छी है तो वह महसूस करती है कि जब तक वह कोई प्रशिक्षित नर्स नहीं रख सकती तब तक बच्चों को नर्सों पर छोड़ना या सफ़ाई और स्वास्थ्य-सम्बन्धी बहुत साधा-

रण कार्यों को दूसरों को सौंपना हानि और खतरे से खाली नहीं है। छोटी-छोटी बातों के बोझ में दबकर यदि वह शीघ्र ही अपनी सारी सुन्दरता और तीन-चौथाई बुद्धि नहीं खो बैठती तो इसे उसका सौभाग्य समझना चाहिए। बहुधा घर का आवश्यक काम करते रहने से ही ऐसी स्त्रियाँ अपने पति के लिए नीरस और बच्चों के लिए मुसीबत बन जाती हैं। शाम के समय जब पति घर लौटता है, उस समय जो स्त्री दिन की मुसीबतों का रोना रोती है, उससे पति को ऊब होती है और जो स्त्री इन मुसीबतों को नहीं सुनाती वह खोई-खोई रहने वाली होती है। अपने बच्चों के लिए जो उसने त्याग किया है उसका खयाल उसके मन में इतना जमा हुआ है कि वह निश्चय ही उनसे बहुत अधिक आशा करने लगेगी, जो उचित नहीं होगा। दूसरी ओर छोटी-छोटी बातों पर निरन्तर ध्यान देते रहने के कारण उसमें चिड़चिड़ापन और तुच्छता आ जाएगी। उसे जितने भी अन्याय झेलने पड़ते हैं उनमें सबसे बड़ा अन्याय यह है कि बच्चों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने का उसे यह फल मिले कि वह उनके स्नेह से वंचित हो जाए। यदि उसने उनकी उपेक्षा की होती और सुन्दर तथा हंसमुख बनी रहती तो शायद वे उससे स्नेह करते।[१]

ये कष्ट मुख्य रूप से आर्थिक हैं। इसी प्रकार की एक और समस्या है, जो कम गम्भीर नहीं है। मेरा आशय आवास की कठिनाइयों से है जो बड़े शहरों में जनसंख्या की अधिकता के कारण उत्पन्न होती हैं। मध्य-युग में शहरों का वातावरण वैसा ही देहाती था, जैसा आजकल गांवों का है। स्कूल के बच्चे अभी तक यह गीत गाते हैं :

पाल की मीनार पर एक वृक्ष है
जो सेबों से लदा हुआ है,
लंदन नगर के छोटे बच्चे
उन्हें तोड़ने के लिए छड़ी लेकर दौड़ते हैं

---

१. ज्यां आइलिन ने अपनी पुस्तक 'द रिट्रीट फ्रॉम पेरेंटहुड' में नौकरीपेशा वर्गों पर इस समस्या के प्रभावों का बहुत ही सूक्ष्म और रचनात्मक विवेचन किया है।

> और तब वे एक बाड़ के बाद दूसरे बाड़ को दौड़कर पार करते हैं
> यहाँ तक कि वे लंदन पुल पर पहुँच जाते हैं।

पॉल की मीनार अब नहीं है और सेंट पॉल और लंदन पुल के बीच के बाड़ न जाने कब ग़ायब हो गए। कई शताब्दियों से लंदन नगर के छोटे बच्चों को वे ख़ुशियाँ नहीं मिलीं जिनकी ओर गीत में संकेत किया गया है, परन्तु बहुत ज्यादा दिन नहीं हुए जब अधिकतर लोग देहातों में रहते थे। शहर बहुत बड़े नहीं होते थे, उनसे बाहर निकलना आसान था और बहुत-से घरों में बगीचे भी होते थे। आजकल इंग्लैण्ड में देहाती आबादी की अपेक्षा शहरी आबादी का पलड़ा बहुत भारी है। अमेरिका में शहरी आबादी का पलड़ा अभी हल्का है किन्तु उसमें तेजी से वृद्धि हो रही है। लंदन और न्यूयार्क जैसे नगर इतने बड़े हैं कि उनसे बाहर निकलने में बहुत समय लगता है। जो लोग शहरों में रहते हैं उन्हें सामान्य रूप से फ़्लैटों में रहना पड़ता है जिनके साथ अलग से एक इंच ज़मीन भी नहीं होती और जिनमें साधारण आय के लोगों को कम-से-कम जगह में गुज़ारा करना पड़ता है। यदि छोटे बच्चे हों तो फ़्लैट में रहने में बहुत कठिनाई होती है। उनके खेलने के लिए कोई कमरा नहीं होता और न ही वहाँ कोई ऐसा कमरा होता है, जहाँ उनके माता-पिता उनके शोर से बचने के लिए शरण ले सकें। इसके कारण अधिकतर व्यावसायिक लोग शहर के बाहर के इलाक़ों में रहना पसन्द करते हैं। निस्सन्देह बच्चों की दृष्टि से यह बहुत अच्छा है, किन्तु इससे आदमी की थकान बहुत बढ़ जाती है और पारिवारिक जीवन में वह जितना योग दे सकता है उतना नहीं दे पाता।

लेकिन इस प्रकार की बड़ी आर्थिक समस्याओं पर विचार करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ये हमारी समस्या की परिधि में नहीं आतीं। हमारी समस्या तो यह है कि अभी और इन्हीं परिस्थितियों में व्यक्ति सुख पाने के लिए क्या करे? वर्तमान युग में माता-पिता और बच्चों के परस्पर सम्बन्धों में जिन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता

है उन पर ध्यान देने से हम अपनी समस्या के अधिक निकट आ जाते हैं। वास्तव में ये कठिनाइयाँ उन समस्याओं का ही एक अंश हैं जो लोकतन्त्र ने पैदा की हैं। पुराने ज़माने में लोग या तो स्वामी होते थे या दास। क्या करना है, इसका निश्चय स्वामी करते थे और साधारणतया वे अपने दासों को पसन्द करते थे, क्योंकि दास उनके सुख में सहायक होते थे। हो सकता है कि दासों को अपने स्वामियों से घृणा रही हो, यद्यपि यह घृणा उतनी व्यापक नहीं थी जितनी कि लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त बताता है। परन्तु यदि वे अपने स्वामियों से घृणा करते भी थे तो भी उनके स्वामी इससे अनभिज्ञ ही रहते थे और स्वामी हर हाल में सुखी थे। लोकतन्त्र के सिद्धान्त को सामान्य मान्यता मिलने के साथ ही स्थिति बदल गई। दासों ने, जो पहले हर बात चुपचाप मान लिया करते थे, अब चुपचाप बात मान लेना बन्द कर दिया। स्वामियों में, जिन्हें पहले अपने अधिकारों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं था, झिझक और अनिश्चितता आ गई। झगड़ा शुरू हो गया और इससे दोनों पक्षों को दुःख पहुँचा। मैं यह सब कहकर लोकतन्त्र के विरोध में कोई तर्क उपस्थित नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि इस प्रकार के झगड़े किसी भी महत्त्वपूर्ण संक्रान्ति-काल में अनिवार्य हैं। परन्तु इस वास्तविकता की ओर से आँखें बन्द कर लेने का कोई लाभ नहीं है कि जब संक्रमण हो रहा हो तो विश्व में विकलता आ ही जाती है।

माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध में जो परिवर्तन आ गया है वह लोकतन्त्र के सामान्य प्रसार का एक विशेष उदाहरण है। लोगों को अपने बच्चों के सम्बन्ध में अपने अधिकारों का अब विश्वास नहीं रहा। बच्चे भी अब यह महसूस नहीं करते कि अपने माता-पिता का सम्मान करना उनका धर्म है। बच्चों को माँ-बाप की आज्ञा का पालन करना चाहिए—इस विषय में विरोध करने का पहले कोई प्रश्न ही नहीं था, किन्तु अब यह बात दक़ियानूसी समझी जाती है और ऐसा समझना ठीक भी है। मनोविश्लेषण विज्ञान ने शिक्षित लोगों के मन में उस हानि का

भय विठा दिया है जो वे अपने बच्चों को अनजाने ही पहुँचा सकते हैं। यदि वे उनका चुम्बन लें तो उनमें इडीपस-ग्रन्थि पैदा हो सकती है और चुम्बन न लें तो उनमें डाह की प्रचण्ड भावना उत्पन्न हो सकती है। वे अपने बच्चों को कुछ उपदेश दें तो उनमें पाप की भावना जड़ पकड़ सकती है और उपदेश न दें तो बच्चे ऐसी आदतें सीख सकते हैं, जो माता-पिता की दृष्टि से अवांछनीय हैं। जब वे बच्चे को अँगूठा चूसते हुए देखते हैं तो वे तरह-तरह के खतरनाक अनुमान लगा लेते हैं, किन्तु उनकी समझ में कुछ नहीं आता कि बच्चे को रोकने के लिए क्या किया जाए। पितृत्व पहले अभिभावी शक्ति के प्रयोग का नाम था, किन्तु अब वही पितृत्व भीरुता, चिन्ता और वास्तविक आशंकाओं का प्रतीक बन गया है। पुरानी साधारण खुशियाँ अब नहीं रहीं और इन खुशियों की कमी आज और भी खलती है जबकि अविवाहित स्त्रियों की स्वाधीनता के कारण किसी स्त्री को माँ बनने के लिए पहले की अपेक्षा बहुत अधिक त्याग करना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में कर्त्तव्य-परायण माँ अपने बच्चों से बहुत कम आशाएं रखती है और कर्त्तव्य-विमूढ़ माँ बहुत अधिक। कर्त्तव्य-परायण माँ अपने नैसर्गिक स्नेह पर संयम रखती है और उसके स्वभाव में शर्मीलापन आ जाता है। कर्त्तव्य-विमूढ़ माँ ऐसी खुशियों का प्रतिकार अपने बच्चों के द्वारा करना चाहती है, जिनका उसे त्याग करना पड़ा है। पहली स्थिति में बच्चे की स्नेहाकांक्षा अतृप्त रहती है, दूसरी स्थिति में उसका अत्यधिक उद्दीपन होता है। इन दोनों ही स्थितियों में वह सरल और स्वाभाविक सुख नहीं मिलता जो अच्छे परिवार में मिल सकता है।

इन सब कष्टों को ध्यान में रखते हुए यदि जन्म-दर में कमी हो रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जन्म-दर कम होते-होते अब ऐसे बिन्दु पर पहुँच गई है, जिससे प्रकट होता है कि आबादी शीघ्र ही घटने लगेगी। परन्तु लगभग सभी अत्यन्त सभ्य देशों के समृद्ध वर्गों में जन्म-दर इस बिन्दु पर बहुत पहले ही पहुँच चुकी थी। यद्यपि समृद्ध वर्गों में जन्म-

दर से सम्बन्धित पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं किन्तु जीन आईलिंग की पुस्तक से दो बातें इस प्रसंग में उद्धृत की जा सकती हैं। स्टाकहोम में १६१६ से १६२२ ई० तक की अवधि में नौकरीपेशा स्त्रियों की सन्तति उत्पन्न करने की शक्ति आम आबादी की अपेक्षा केवल एक-तिहाई थी। १८६६ ई० से १६१६ ई० तक की अवधि में वैलेज़ली कॉलेज, संयुक्त राज्य अमेरिका के चार हज़ार स्नातकों में बच्चों की कुल संख्या लगभग तीन हजार थी, जबकि वंश को ह्रास से बचाने के लिए बच्चों की संख्या आठ हज़ार होनी चाहिए थी और इनमें से किसी की भी बचपन में मृत्यु नहीं होनी चाहिए थी। सफ़ेद जातियों ने जिस सभ्यता का निर्माण किया है उसकी असाधारण विशेषता यह है कि स्त्री-पुरुष जिस अनुपात में उसे अंगीकार करते हैं उसी अनुपात में उनकी प्रजनन-शक्ति कम हो जाती है। जो सबसे अधिक सभ्य हैं, उनमें प्रजनन-शक्ति सबसे कम है। जो सबसे कम असभ्य हैं, उनमें यह शक्ति सबसे अधिक है। इन दोनों के बीच में अनेक श्रेणियाँ हैं। इस समय पश्चिमी जगत् की जातियों के सबसे बुद्धिमान वर्ग मिटते जा रहे हैं। कुछ वर्षों के अन्दर ही पश्चिमी जगत् की जातियों की जनसंख्या घटनी शुरू हो जाएगी और जिस हद तक कम सभ्य क्षेत्रों से आकर बसने वाले लोग उनकी जनसंख्या की इस कमी को पूरा कर सकेंगे उसी हद तक यह क्रिया रुक सकेगी। परन्तु जैसे ही ये दूसरे लोग भी नए देश की सभ्यता को अंगीकार कर लेंगे वैसे ही उनकी प्रजनन-शक्ति भी अपेक्षाकृत कम हो जाएगी। स्पष्ट ही है कि जिस सभ्यता में यह विशेषता हो उसमें स्थायित्व नहीं हो सकता। जब तक सन्तान पैदा करने के लिए उसे प्रेरित न किया जाए तब तक उसके जीवित रहने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। वह जल्दी ही या कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाएगी और उसका स्थान कोई दूसरी सभ्यता ले लेगी, जिसमें पितृत्व की उत्कण्ठा इतनी प्रबल होगी कि वह जन-संख्या को कम होने से रोक सकेगी।

प्रत्येक पश्चिमी देश के सरकारी नीतिज्ञों ने अनुरोध और भावकता

के द्वारा इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया है। एक ओर तो वे कहते हैं कि भगवान् जितनी भी सन्तान देना चाहे, उसको स्वीकार करना प्रत्येक दम्पती का कर्तव्य है—चाहे सन्तान के स्वस्थ और सुखी रहने की सम्भावना हो या न हो। दूसरी ओर धर्माचार्य मातृत्व के पवित्र आनन्द का ढिंढोरा पीटते हैं और कहते हैं कि रोगी और निर्धन बच्चों का बड़ा परिवार सुख का स्रोत है। राज्य भी इस पक्ष का समर्थन करते हुए यह तर्क देता है कि युद्ध में खपाने के लिए आदमियों की पर्याप्त संख्या आवश्यक है, क्योंकि इतने आकर्षक और निपुणता-पूर्वक बनाये गए विनाशकारी हथियारों का उपयोग कैसे हो सकता है जब तक कि विनष्ट करने के लिए उन्हें काफ़ी आबादी न मिले। यह अजीब बात है कि कोई स्त्री या पुरुष दूसरे लोगों के सम्बन्ध में तो शायद इन तर्कों को सही मान लेता है किन्तु जब यह बात उस पर आती है तो उसके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। धर्माचार्य और देशभक्त दोनों के मनोविज्ञान में कुछ दोष है। धर्माचार्य जब तक लोगों को नरक-यातना से डराने में सफल होते रहेंगे तब तक लोगों पर उनकी बातों का प्रभाव होता रहेगा, किन्तु अब इस धमकी को बहुत कम लोग महत्त्व देते हैं और इससे मामूली कोई भी धमकी इतने निजी मामले में व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित करने में प्रभावी सिद्ध नहीं हो सकती। जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है उसके तर्क से अत्यधिक क्रूरता प्रकट होती है। लोग यह तो मान सकते हैं कि दूसरों को तोप का कौर बनना चाहिए, किन्तु अपने बच्चों के सम्बन्ध में यह बात उनके मन को अच्छी नहीं लगती। इसलिए राज्य यही कर सकता है कि निर्धन लोगों को इस विषय में अनभिज्ञ रखने का प्रयत्न किया जाए, किन्तु जैसा कि आँकड़ों से प्रकट होता है पश्चिम के कुछ बहुत ही अनुन्नत देशों को छोड़कर अन्य सभी देशों में राज्य को अपने इस प्रयत्न में घोर विफलता का सामना करना पड़ा है। ऐसे पुरुषों या स्त्रियों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो राज्य के प्रति कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर संतति के इच्छुक होते हों। राज्य के प्रति ऐसा भी कोई कर्तव्य हो सकता है,

इसका बोध यदि बहुत स्पष्ट भी होता तो भी बहुत थोड़े लोग इस कारण से सन्तान पैदा करना चाहते। सन्तान होने के दो ही कारण हो सकते हैं। पुरुष और स्त्री या तो यह समझते हैं कि सन्तान से उनके सुख में वृद्धि होगी या फिर सन्तति रोकने के उपायों का उन्हें ज्ञान नहीं होता। दूसरा कारण अभी भी बहुत प्रभावशाली है, किंतु उसका प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है और राज्य या धर्मतन्त्र लाख चाहें तो भी इस प्रभाव को कम होने से नहीं रोक सकते। इसलिए यदि सफ़ेद जातियां जीवित रहना चाहती हैं तो पितृत्व में फिर ऐसी शक्ति लानी होगी जो माता-पिता के सुख का कारण बन सके।

वर्तमान परिस्थितियों से अलग होकर मानव-प्रकृति पर विचार किया जाए तो मेरे विचार से यह स्पष्ट हो जाएगा कि पितृत्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का सबसे बड़ा और सबसे स्थायी सुख प्रदान करने में समर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर यह बात अधिक चरितार्थ होती है, परन्तु पुरुषों के सम्बन्ध में भी यह बात उससे कहीं अधिक सही है, जितना कि अधिकांश आधुनिक लोग समझते हैं। वर्तमान युग से पहले का जितना साहित्य है, उसमें इसे सत्य माना गया है। हेकुबा अपने बच्चों को प्रियतम से अधिक चाहती है। मेकडफ़ को अपनी पत्नी की अपेक्षा अपने बच्चों से अधिक प्यार है। तौरेत (ओल्ड टेस्टामेंट) में पुरुष और स्त्री सन्तान के लिए बहुत उत्कंठित दिखाई देते हैं। चीन और जापान में यह अभिवृत्ति आज भी मिलती है। कहा जा सकता है कि यह कामना पूर्वजों के प्रति भक्तिभाव के कारण है। मेरे विचार में सत्य इसके विपरीत है अर्थात् पूर्वजों के प्रति भक्ति-भाव अपने वंशक्रम को अवच्छिन्न रखने की इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। अब हम फिर उन नौकरी पेशा स्त्रियों की ओर आते हैं जिन पर हम कुछ देर पहले विचार कर रहे थे। स्पष्ट ही है कि उनमें मां बनने की बहुत ही प्रबल इच्छा होनी चाहिए, अन्यथा उनमें से कोई भी वह त्याग नहीं कर सकेगी, जो इस इच्छा की पूर्ति के लिए आवश्यक है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है मैंने

जितने भी सुख अनुभव किए हैं उनमें पितृत्व का सुख सबसे बड़ा था। मेरा विश्वास है कि जब परिस्थितियाँ किसी पुरुष या स्त्री को इस सुख को त्यागने पर बाध्य कर देती हैं तो उसकी एक मूल आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती और उसमें ऐसा असन्तोष और ऐसी निष्क्रियता आ जाती है जिसके कारण स्वयं उसे ज्ञात नहीं होते। इस संसार में सुखी रहने के लिए, विशेषकर जब युवावस्था समाप्त हो चुकी हो, आवश्यक है कि आप अपने-आपको ऐसा विविक्त व्यक्ति न समझें जिसके दिन शीघ्र ही पूरे हो जायेंगे, बल्कि अपने-आपको ऐसी जीवन-धारा का अंश समझें जो प्राणी के सर्वप्रथम उद्भव से लेकर सुदूर और अज्ञात भविष्य तक फैली हुई है। इस भाव को सचेतन रूप से निश्चित शब्दों में अभिव्यक्त किया जाए तो निस्सन्देह यह संसार के प्रति एक अति-संस्कृत और बौद्धिक दृष्टिकोण का द्योतक प्रतीत होगा, परन्तु एक अस्पष्ट सहज वृत्तिजन्य भाव के रूप में यह भाव आदिम और नैसर्गिक है और वास्तव में इसका अभाव ही अति-संस्कृत होने का लक्षण है। यदि कोई व्यक्ति इतना महान् और प्रतिभा-सम्पन्न हो कि उसकी उपलब्धियां भविष्य पर अमिट छाप छोड़ सकती हों तो वह अपने कार्य द्वारा इस भावना को तृप्त कर सकता है, परन्तु जिन लोगों में इतनी असाधारण योग्यता नहीं है उनकी इस भावना की तृप्ति केवल सन्तान द्वारा ही सम्भव है। जो लोग संतति की उत्कंठा को नष्ट हो जाने देते हैं वे अपने-आपको जीवन की धारा से बिलकुल अलग कर लेते हैं और इसका सबसे खतरनाक परिणाम यह होता है कि उनका जीवन विरस हो जाता है। उनके लिए—जब तक कि वे असाधारण रूप से निर्वैयक्तिक स्वभाव के न हों—मृत्यु के साथ सब-कुछ शेष हो जाता है। उनके बाद संसार में जो कुछ होगा उससे उनको कोई मतलब नहीं होता और इसके कारण उन्हें अपने कार्य बहुत तुच्छ और महत्त्वहीन दिखाई देते हैं। जिस पुरुष या स्त्री के बच्चे या नाती-पोते होते हैं और जो इनसे नैसर्गिक स्नेह करता है उसके लिए भविष्य महत्त्वपूर्ण होता है—कम-से-कम उनके जीवन-काल तक तो

अवश्य ही। उसे भविष्य केवल नैतिकता या कल्पना के प्रयास के कारण महत्त्वपूर्ण दिखाई नहीं देता, बल्कि सहज और स्वाभाविक रूप से उसे ऐसा प्रतीत होता है। और जिस व्यक्ति की रुचियां उसके वैयक्तिक जीवन की परिधि से निकलकर इतनी विस्तृत हो चुकी हों, वह सम्भवतः उन्हें और भी अधिक विस्तृत कर सकता है। अब्राहम की भांति उसे यह सोचकर सन्तोष होगा कि अन्ततः उसकी सन्तान को ही प्रत्याशित स्वर्ग मिलेगा यद्यपि कई पीढ़ियों तक शायद यह सम्भव न हो। इसके कारण उसके मन में यह भावना उत्पन्न नहीं होती कि संसार में सब-कुछ व्यर्थ है और इससे उसकी भावनाएं कुंठित होने से बच जाती हैं।

निस्सन्देह परिवार का आधार उस विशेष प्रकार के स्नेह में है जो माता-पिता को अपने बच्चों से होता है। यह स्नेह उस स्नेह से भिन्न है जो वे एक-दूसरे से अथवा दूसरे बच्चों से करते हैं। यह सच है कि कुछ मां-बाप ऐसे भी हैं जिन्हें अपने बच्चों से या तो स्नेह नहीं होता या यदि होता भी है तो बहुत थोड़ा। और यह भी सच है कि कुछ स्त्रियां दूसरे बच्चों से भी लगभग उतना ही अधिक स्नेह कर सकती हैं जितना कि अपने बच्चों से। फिर भी सामान्य रूप से यही सत्य है कि पैतृक स्नेह एक विशेष प्रकार की भावना है जो साधारण पुरुष या स्त्री के मन में अपनी सन्तान के लिए ही उत्पन्न होती है, किसी अन्य व्यक्ति के लिए नहीं। यह भावना हमें अपने पशु पूर्वजों से मिली है। इस सम्बन्ध में फ्रायड का दृष्टिकोण मुझे पर्याप्त रूप से जीववैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि किसी मादा को यदि आप उसके बच्चों के साथ देखें तो यह प्रकट होगा कि अपने बच्चों से साथ वह जो व्यवहार करती है वह उस व्यवहार से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है जो वह उस नर से करती है जिससे उसके यौन-सम्बन्ध हों और यही अन्तर तथा सहज-वृत्तिजन्य विशेषता मनुष्य में भी मिलती है; यद्यपि परिवर्तित और कम स्पष्ट रूप में। यदि यह विशेष भावना होती तो एक संस्था के रूप में परिवार के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता भी न होती, क्योंकि उस स्थिति में बच्चों की देखभाल

करने वाले पेशेवरों पर भी बच्चों को छोड़ देने में कोई हानि न होती। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि माता-पिता को बच्चों से जो विशेष स्नेह होता है—बशर्ते कि उनकी सहज-वृत्तियाँ क्षीण न हो गई हों—वह स्वयं उनके लिए भी मूल्यवान है और बच्चों के लिए भी। बच्चों के लिए पैतृक स्नेह का बहुत अधिक मूल्य इसलिए है कि किसी अन्य प्रकार के स्नेह की अपेक्षा उस पर अधिक विश्वास किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को उसके मित्र उसके गुणों के कारण पसन्द करते हैं और किसी स्त्री से उसका प्रेमी उसके सौन्दर्य के कारण प्रेम करता है। यदि गुण या सौन्दर्य कम हो जाए तो मित्र और प्रेमी ग़ायब भी हो सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्य की स्थिति में सबसे अधिक भरोसा माता-पिता पर ही किया जा सकता है। बीमारी में और बदनामी की स्थिति में भी यदि माँ-बाप समझदार हों तो उनका बहुत सहारा रहता है। हम सब लोग अपने गुणों की प्रशंसा से बहुत प्रसन्न होते हैं, किन्तु हममें से अधिकांश लोगों के मन में विनम्रता का इतना भाव अवश्य रहता है कि वे इस प्रशंसा के खतरे को समझ सकें। हमारे माता-पिता हमसे इसलिए स्नेह करते हैं कि हम उनकी सन्तान हैं और यह ऐसा सत्य है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए किसी और व्यक्ति की अपेक्षा उनके साथ हम अपने को अधिक सुरक्षित समझते हैं। सफलता के समय में यह बात महत्त्वहीन प्रतीत हो सकती है, किन्तु विफलता के समय में हमें इससे जो सांत्वना और रक्षा मिलती है वह अन्यत्र नहीं मिल सकती।

सभी मानव-सम्बन्धों में किसी एक पक्ष के लिए सुख पा लेना काफ़ी सरल है, किन्तु दोनों पक्षों के लिए सुख की उपलब्धि बहुत कठिन है। जेलर को क़ैदियों की पहरेदारी करने में आनन्द आ सकता है; नियोक्ता को अपने कर्मचारियों को डाँटने में मजा मिल सकता है; शासक अपनी प्रजा पर कठोर शासन करने में आनन्द का अनुभव कर सकता है। और निस्संदेह पुरानी चाल के पिता को अपने पुत्र को डंडे से डराकर सद्-गुणी बनाने में बहुत खुशी मिलती थी। परन्तु इस तरह की खुशियाँ एक

पक्ष को ही प्राप्त होती हैं। दूसरे पक्ष के लिए यह स्थिति उतनी प्रिय नहीं है। हम महसूस करने लगे हैं कि इस प्रकार की खुशियां, जिनसे कोई एक पक्ष ही लाभान्वित हो सकता हैं, सन्तोषजनक नहीं है। हमारा विश्वास है कि अच्छे मानव-सम्बन्ध दोनों पक्ष के लिए तुष्टिदायक होने चाहिएं। माता-पिता और बच्चों के परस्पर सम्बन्धों पर यह बात और भी विशेष रूप से लागू होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि माता-पिता को पहले की अपेक्षा अब अपने बच्चों से बहुत कम खुशी मिलती है जबकि बच्चों को भी पिछले जमाने की अपेक्षा माता-पिता के हाथों कम कष्ट झेलना पड़ता है। मेरे विचार में कोई कारण नहीं है कि माता-पिता को अपने बच्चों से उतनी खुशी न मिले जितनी उन्हें पहले मिलती थी, यद्यपि इस समय स्थिति यही है। इसी प्रकार मेरे विचार में कोई कारण नहीं है कि अपने बच्चों के सुख को बढ़ाने में माता-पिता को विफलता का सामना करना पड़े। परन्तु समानता पर आधारित सभी सम्बन्धों की तरह, जिनकी स्थापना आधुनिक संसार का लक्ष्य है, इसके लिए भी कुछ सावधानी और कोमलता तथा एक-दूसरे के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान के भाव की आवश्यकता होती है। सामान्य जीवन की कलहों से इन प्रवृत्तियों को कोई भी प्रोत्साहन नहीं मिलता। आइये, हम पितृत्व के सुख पर ही विचार कर लें। पहले इसके जैविक गुण पर विचार करेंगे और तब उसके उस रूप पर जो माता या पिता में दूसरे व्यक्तित्वों के प्र ति एक विशेष मनोवृत्ति के कारण विकसित हो सकता है। इस विशेष मनोवृत्ति के सम्बन्ध में हम पहले बता चुके हैं कि वह ऐसे संसार के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो समानता पर विश्वास रखता हो।

पितृत्व के आनन्द के दो मूल कारण हैं। एक ओर तो आदमी महसूस करता है कि उसके शरीर के एक अंग ने बाह्य रूप धारण कर लिया है जो उसके शरीर के अन्य अंगों के नष्ट हो जाने के बाद भी जीवित रहेगा और जो आगे चलकर सम्भवतः इसी प्रकार अपने एक अंश को बाह्यरूप देगा और इस तरह पितृ द्रव्य अमर हो जाएगा। दूसरी ओर पितृत्व में

शक्ति और कोमलता का गहरा योग होता है। नव-जात शिशु असहाय होता है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माता-पिता तीव्र इच्छा अनुभव करते हैं। इससे बच्चे के प्रति उनकी स्नेह-भावना ही तृप्त नहीं होती, उनकी अधिकार करने की कामना को भी तृप्ति मिलती है। जब तक शिशु असहाय समझा जाता है तब तक उसको दिए जाने वाले स्नेह में स्वार्थ की भावना भी सम्मिलित होती है, क्योंकि यह स्नेह कुछ वैसा ही है जैसे कि अपने शरीर के किसी कमज़ोर हिस्से की रक्षा करना। परन्तु बच्चा जब बहुत ही छोटा होता है तभी से माता-पिता की अधिकार-भावना और बच्चे की भलाई की कामना के बीच संघर्ष होने लगता है, क्योंकि जहाँ एक हद तक बच्चे का माता-पिता के वश में होना स्वाभाविक है वहाँ यह भी वांछनीय है कि जहाँ तक जल्दी हो सके बच्चे को सभी प्रकार से स्वाधीन होना सीखना चाहिए। बच्चे की यह स्वाधीनता माता-पिता की अधिकार भावना को प्रिय नहीं होती। कुछ माता-पिताओं को इस संघर्ष का कोई भी ज्ञान नहीं होता और वे अपने बच्चों के लिए तब तक क्रूर बने रहते हैं जब तक कि वे विद्रोह न कर बैठें। परन्तु कुछ लोगों को इस संघर्ष का ज्ञान हो जाता है और तब वे अपने-आपको विरोधी भावनाओं के चंगुल में फँसा हुआ पाते हैं। इस संघर्ष के कारण उनका पितृत्व से प्राप्त होने वाला सुख नष्ट हो जाता है। बच्चे का इतना खयाल रखने के बाद जब वे देखते हैं कि उसने उनकी सब आशाओं पर पानी फेर दिया है तो उन्हें बहुत कुढ़न होती है। वे चाहते थे कि उनका लड़का सिपाही बने, किन्तु वह शान्तिवादी बन जाता है या तॉलसतॉय की भाँति, जब वे यह चाहते हैं कि उनका लड़का शान्तिवादी बने तो वह 'ब्लैक हंड्रेड्स' में शामिल हो जाता है। परन्तु ये कठिनाइयाँ लड़के के बड़े होने पर ही नहीं पैदा होतीं। यदि बच्चा स्वयं खा सकता हो और आप उसे अपने हाथों से खिलाने लगें तो इसका अर्थ यही होगा कि आप अधिकारप्रियता को बच्चे की भलाई से अधिक महत्त्व दे रहे हैं, यद्यपि आपको यही लगेगा कि आप बच्चे को कष्ट से

बचाने के लिए स्नेह का बरताव कर रहे हैं। यदि आप उसे खतरों से बहुत अधिक सचेत करते रहें तो इसका कारण यह हो सकता है कि आप उसे अपने ऊपर अवलम्बित रखना चाहते हैं। यदि आप उसके साथ स्नेह का प्रदर्शन करते हैं और चाहते हैं कि वह भी इसके बदले में स्नेह दे, तो शायद आप बच्चे पर उसकी भावनाओं के द्वारा अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अनगिनत छोटे-बड़े तरीक़ों से माता-पिता की अधिकार-इच्छा उन्हें ग़लत रास्ते पर डाल सकती है। इससे वे तभी बच सकते हैं जब वे बहुत सचेत हों या उनका हृदय बहुत स्वच्छ हो। आज जो माता-पिता इन खतरों को समझते हैं वे बच्चों को सँभालने के विषय में कभी-कभी आत्म-विश्वास खो बैठते हैं और इसलिए स्वाभाविक रूप से ग़लतियाँ करते हुए वे अपने बच्चों के लिए जितने उपयोगी हो सकते थे उससे भी कम उपयोगी रह जाते हैं, क्योंकि वयस्क व्यक्ति में आत्म-विश्वास और निश्चितता के अभाव से बच्चे को जितनी परेशानी होती है उतनी किसी और बात से नहीं होती। इसलिए हृदय की स्वच्छता सावधानी से भी अधिक आवश्यक है। जो माँ-बाप बच्चे पर अधिकार प्राप्त करने से ज्यादा उसका हित चाहते हों, उन्हें मनोविश्लेषण की पाठ्य-पुस्तकों से यह जानने की आवश्यकता नहीं होगी कि बच्चों के साथ क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इस सम्बन्ध में जो कुछ उनका सहज मन कहे वही ठीक होगा। ऐसी स्थिति में माता-पिता और बच्चे के सम्बन्ध शुरू से आखिर तक बहुत अच्छे रहेंगे और न तो बच्चे में विद्रोह की इच्छा होगी और न ही माता-पिता को निराशा होगी। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि माँ या बाप बच्चे के व्यक्तित्व का सम्मान करें। यह सम्मान केवल किसी नैतिक या बौद्धिक सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि किसी आध्यात्मिक विश्वास की भाँति इसकी इतनी तीव्र अनुभूति होनी चाहिए कि अधिकार-वृत्ति और अत्याचार की कुछ भी सम्भावना न रहे। इस प्रकार की मनोवृत्ति केवल बच्चों के सम्बन्ध में ही वांछनीय

नहीं है, विवाह और मित्रता में भी ऐसी ही मनोवृत्ति होनी चाहिए, यद्यपि मित्रता में ऐसी मनोवृत्ति रखना कुछ कम कठिन है। अच्छे संसार में मनुष्यों के विभिन्न दलों के राजनैतिक सम्बन्धों में भी इसी मनोवृत्ति से काम लिया जायेगा, किन्तु यह आशा अभी बहुत दिनों तक पूरी होती दिखाई नहीं देती और इसलिए हमें इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वैसे तो सारे संसार को इस प्रकार की कोमलता की आवश्यकता है, किन्तु बच्चों को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि वे असहाय होते हैं और उजड्ड लोग उनके छोटे और कमज़ोर होने के कारण उनका तिरस्कार करते हैं।

जब हम उन समस्याओं की ओर आते हैं जिनसे इस पुस्तक का सम्बन्ध है, तो हम देखते हैं कि आज के संसार में पितृत्व का सम्पूर्ण आनन्द केवल वही लोग प्राप्त कर सकते हैं जिनके मन में बच्चे के प्रति सम्मान का गहरा भाव हो, जिसका ज़िक्र मैं अभी कुछ देर पहले कर चुका हूँ। उन्हें अधिकार प्राप्त करने की इच्छा को संयत रखने की विरक्ति-कर क्रिया का सामना करना नहीं पड़ेगा और न ही उन्हें निराशा का डर होगा जो स्वेच्छाचारी माता-पिता को, जब कि उनके बच्चे स्वाधीन हो जाते हैं, होती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखने वाले पुरुष या स्त्री को पितृत्व में जितना आनन्द मिलेगा, उतना आनन्द माता-पिता की स्वेच्छाचारिता के स्वर्ण युग में भी कभी सम्भव नहीं था। जब प्रेम में इतनी कोमलता आ जाती है कि उसमें अत्याचार की कोई वृत्ति नहीं होती तो उससे ऐसा सूक्ष्म आनन्द प्राप्त हो सकता है जिसमें दैनिक जीवन की स्थूलता को आध्यात्मिक आह्लाद में बदल देने की शक्ति होती है। जो व्यक्ति इस अस्थिर संसार में अपने उत्कर्ष को बनाए रखने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहा हो उसकी भावनाएं भी ऐसा आनन्द और ऐसी शक्ति प्रदान नहीं कर सकतीं।

मेरी दृष्टि में पितृत्व की भावना का बहुत महत्त्व है, किन्तु अधिकांश लोगों की तरह मैं इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि माँ को

जहाँ तक हो सके अपने बच्चों का सारा काम स्वयं करना चाहिए। इस विषय में एक पुराना विचार चला आ रहा है, जो उस समय के लिए तो ठीक हो सकता था, जब बच्चों की देख-रेख के बारे में कुछ अवैज्ञानिक बातों को छोड़कर कोई ज्ञान नहीं था। और ये बातें युवतियों को बूढ़ी स्त्रियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मालूम होती चली जाती थीं। अब बच्चों की देख-रेख से सम्बन्धित बहुत-से कार्य इन लोगों के द्वारा ज्यादा अच्छी तरह हो सकते हैं, जिन्होंने इस विषय की किसी शाखा का विशेष अध्ययन किया हो। जहाँ तक बच्चों की दीक्षा के उस अंग का सम्बन्ध है जिसे 'शिक्षा' कहा जाता है, यह बात स्वीकार की जा चुकी है। माँ अपने बच्चे से चाहे कितना ही स्नेह क्यों न करती हो, उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह अपने बच्चे को नकल सिखाएगी। जहाँ तक पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करने का सम्बन्ध है, प्रायः सब लोग स्वीकार करते हैं कि इस ज्ञान की प्राप्ति में अशिक्षित माता की अपेक्षा वे लोग बच्चों की कहीं अधिक सहायता कर सकते हैं जो शिक्षित हैं। परन्तु बच्चों की देख-रेख से सम्बन्धित ऐसे अनेक पहलू हैं जिनके सम्बन्ध में यह बात स्वीकार नहीं की जाती। इसका कारण यही है कि उनके लिए जिस अनुभव की आवश्यकता है उसके महत्त्व को लोग अभी तक नहीं समझ सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ काम ऐसे हैं जिन्हें माँ ज्यादा अच्छी तरह कर सकती है, किन्तु जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होगा वैसे-वैसे इस प्रकार के काम बढ़ते जाएँगे, जिन्हें कोई दूसरा व्यक्ति ही ज्यादा अच्छी तरह कर सकेगा। इस तथ्य को लोग समझ जाएँ तो माँ को ऐसे बहुत-से कामों से छुटकारा मिल जाएगा, जो उसके लिए विरक्ति-कर हैं, क्योंकि इन कामों के लिए उसमें व्यावसायिक योग्यता नहीं होती। यदि किसी स्त्री ने किसी व्यवसाय में कौशल प्राप्त किया हो तो उसे माँ होने के बावजूद अपने इस कौशल का उपयोग करना चाहिए, क्योंकि यह उसके अपने हित की दृष्टि से भी आवश्यक है और समुदाय के हित की दृष्टि से भी। गर्भावस्था के अन्तिम महीनों में

और जब तक उसे बच्चे को दूध पिलाना पड़े, तब तक शायद यह सम्भव न हो, किन्तु बच्चा जब नौ महीने से बड़ा हो जाए तो माँ के व्यावसायिक कार्यों में उसके कारण बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। यदि समाज माँ को ऐसा त्याग करने पर बाध्य करेगा जो विवेक के विरुद्ध हो, तो माँ—जब तक कि उसका स्वभाव सन्तों जैसा न हो—बच्चे से अपने त्याग का इतना बदला चाहने लगेगी, जितना चाहने का उसे अधिकार नहीं है। जिन स्त्रियों के बारे में यह समझा जाता है कि उन्होंने अपने बच्चों के लिए बहुत त्याग किया है उनमें से अधिकतर, जहाँ तक बच्चों का सम्बन्ध है, असाधारण रूप से स्वार्थी होती हैं, क्योंकि यद्यपि जीवन के एक मूल तत्त्व के रूप में पितृत्व का महत्त्व बहुत है, किन्तु उसे जीवन में सब-कुछ मान लिया जाए तो उससे तृप्ति नहीं मिल सकती और अतृप्त माता या पिता में अधिकार चाहने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो सकती है। इसलिए बच्चे और माँ दोनों के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि माँ दूसरी सभी रुचियों और कार्यों से अपने-आपको बिलकुल अलग न कर ले। यदि उसमें वस्तुतः बच्चों की देख-रेख की योग्यता है और इस विषय का उसे इतना ज्ञान है कि अपने बच्चों की देख-रेख अच्छी तरह कर सकती हो, तो उसे चाहिए कि अपने इस कौशल का उपयोग व्यापक स्तर पर करे और बच्चों के ऐसे समूह की देख-रेख का भार ग्रहण करे, जिसमें उसके अपने बच्चे भी हो सकते हैं। ऐसे सभी लोगों को, जो शिक्षित हों और राज्य द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करते हों, इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वे अपने बच्चों की देख-रेख और देख-रेख करने वालों के विषय में अपने सुझाव दे सकें। परन्तु यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि जो काम दूसरी स्त्रियाँ अधिक कुशलता के साथ कर सकती हैं उसे भी माँ को ही करना चाहिए। जो स्त्रियाँ अपने को बच्चों की देख-रेख के योग्य न समझती हों, जैसा कि बहुत-सी स्त्रियाँ वास्तव में समझती हैं, तो उन्हें अपने बच्चों की देख-रेख का काम उन स्त्रियों को सौंपते हुए संकोच नहीं होना चाहिए,

जिन्हें इस काम से रुचि हो और जिन्होंने इस काम का प्रशिक्षण प्राप्त किया हो। स्त्रियों में ऐसी कोई ईश्वर-दत्त वृत्ति नहीं होती जिससे उन्हें यह ज्ञान हो सके कि बच्चों के साथ किस प्रकार का व्यवहार ठीक होगा। बच्चों के विषय में अत्यधिक चिन्ता अधिकार की इच्छा को छिपाने का ही एक रूप है। अपनी माँ के अज्ञान और भावुकता के कारण बहुत-से बच्चे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत खराब हो जाते हैं। यह बात हमेशा स्वीकार की गई है कि बाप से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने बच्चों का बहुत अधिक काम करेगा, परन्तु इसके बावजूद बच्चों को अपने बाप से उतना ही स्नेह होता है जितना अपनी माँ से। भविष्य में माँ और बच्चे के सम्बन्ध उसी प्रकार के होंगे, जिस प्रकार के इस समय बाप और बच्चे के हैं और तभी स्त्रियों को अनावश्यक दासता से मुक्ति मिल सकेगी और बच्चे भी अपने शरीर और मन की देखभाल से सम्बन्धित उस वैज्ञानिक जानकारी का लाभ उठा सकेंगे, जिसमें बराबर वृद्धि हो रही है।

चौदहवां अध्याय

काम

काम की गणना सुख के कारणों में होनी चाहिए या दुःख के कारणों में, यह एक संदिग्ध प्रश्न हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुतेरा काम ऐसा होता है जिससे बड़ी झुंझलाहट होती है और बहुत अधिक काम करना हमेशा ही कष्ट का कारण होता है। परन्तु मेरा विचार है कि यदि काम बहुत ज्यादा न हो तो अधिकांश लोगों के लिए नीरस-से-नीरस काम भी बेकार बैठे रहने की अपेक्षा कम कष्टदायी होता है। काम की प्रकृति और काम करने वाले की योग्यताओं के अनुसार काम के अन्तर्गत सभी प्रकार की अवस्थाएं हैं जिनमें उकताहट से छुटकारा पाने से लेकर परम आह्लाद तक की अनुभूति हो सकती है। अधिकांश लोग जो काम करते हैं वह प्रायः अपने-आपमें रुचिकर नहीं होता, किन्तु इस प्रकार के काम के भी कुछ बड़े लाभ हैं। पहला तो यह है कि उसे करने में दिन का बहुत बड़ा हिस्सा बीत जाता है और क्या किया जाए इसके बारे में सोचने की आवश्यकता नहीं होती। बहुत-से लोगों को जब अपनी पसन्द के अनुसार अपने समय का उपयोग करने की स्वाधीनता होती है तो उन्हें करने योग्य कोई भी काम सुझाई नहीं देता। और वे कुछ करने का निश्चय करते भी हैं तो भी उन्हें यह सोचकर परेशानी होती है कि कोई दूसरा काम शायद इससे अधिक दिलचस्प होता। अवकाश की चतुराई के साथ उपयोग करने की क्षमता सभ्यता की अन्तिम देन है और अभी बहुत थोड़े लोग इस धरातल पर पहुंच सके हैं। इसके अतिरिक्त काम चुनना अपने-आपमें एक कष्टदायक कार्य है। केवल उन लोगों को

छोड़कर, जिनमें पहल करने की असाधारण क्षमता होती है, दूसरे सभी लोगों को यही स्थिति अच्छी लगती है कि उन्हें बता दिया जाए कि दिन में क्या-क्या करना है; किन्तु शर्त यह है कि काम के आदेश बहुत कठिन न हों। बहुत-से आलसी धनी लोग काम के कष्ट से बचने के लिए बेहद उकताहट का शिकार बन जाते हैं। अफ्रीका के जंगलों में शिकार खेलने या हवाई जहाज द्वारा पूरे विश्व की सैर करने के कारण कभी-कभी उनकी उकताहट कुछ कम जरूर हो जाती है। किन्तु इस प्रकार की उत्तेजनाओं के अवसर बहुत सीमित होते हैं, विशेषकर तब जब यौवन समाप्त हो चुका हो। अतः बुद्धिमान धनी पुरुष निर्धन लोगों की भाँति ही बहुत परिश्रम के साथ काम करते हैं और धनी महिलाएँ ऐसे अनगिनत छोटे-मोटे कामों में अपने को व्यस्त रखती हैं, जिनके विश्व-व्यापी महत्त्व का उन्हें दृढ़ विश्वास होता है।

इसलिए उकताहट से बचने के लिए काम बहुत ही आवश्यक है। कोई आवश्यक और नीरस कार्य करने में मनुष्य जो उकताहट महसूस करता है वह उस उकताहट की तुलना में कुछ भी नहीं है, जो बेकार बैठे रहने पर आदमी महसूस करता है। काम के इस लाभ से मिलता-जुलता एक और लाभ यह है कि छुट्टी के दिनों में मिलने वाला आनन्द इसके कारण बहुत बढ़ जाता है। यदि आदमी को इतना अधिक परिश्रम न करना पड़ता हो कि उसकी शक्ति ही क्षीण हो जाए, तो उसके लिए अवकाश बेकार बैठे रहने वाले किसी व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द-प्रद सिद्ध होगा।

अधिकांश सपारिश्रमिक कार्यों और कुछ बिना पारिश्रमिक के कार्यों में एक और लाभ यह है कि उनमें सफलता और महत्त्वाकांक्षा के अवसर मिलते हैं। अधिकतर कार्यों में सफलता का मापदण्ड आय ही है और जब तक हमारा पूँजीवादी समाज रहेगा तब तक यही स्थिति रहेगी। केवल बहुत उत्कृष्ट कार्यों में ही इस मापदण्ड का प्रयोग अस्वाभाविक प्रतीत होता है। लोगों में अपनी आय में वृद्धि करने की जो इच्छा होती

है वह सफलता की इच्छा होने के साथ-साथ अधिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने की इच्छा भी है। आय में वृद्धि होने के कारण अधिक सुख-सुविधाएँ सुलभ हो सकती हैं। यदि किसी काम से व्यक्ति को संसार में या अपने समुदाय में ख्याति मिल सकती हो तो वह काम चाहे कितना ही नीरस क्यों न हो, व्यक्ति के लिए सहनीय हो जाता है। प्रयोजन की अनन्यता अन्ततः सुख का एक आवश्यक अंग सिद्ध होती है और अधिकांश लोगों के लिए यह उनके कार्य द्वारा ही सम्भव है। इस दृष्टि से जो स्त्रियाँ घर के काम-काज में ही लगी रहती हैं वे पुरुषों या घर के बाहर काम करने वाली स्त्रियों की अपेक्षा कम भाग्यशाली हैं। गृहस्थी में लगी हुई स्त्री को कोई तनखा नहीं मिलती, अपनी स्थिति को सुधारने का उसके पास कोई साधन नहीं होता, (वह जो कुछ करती है उसका पति उसे नहीं देख पाता) और पति उसकी क़द्र घर के काम-काज के कारण नहीं, बल्कि दूसरे गुणों के कारण करता है। यह सच है कि यह बात उन धनी महिलाओं पर लागू नहीं होती जो इतने सुन्दर भवन और बग़ीचे बना सकती हों कि पड़ोसियों को उनसे ईर्ष्या होती हो। परन्तु ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। अधिकांश स्त्रियों को घर के काम-काज से उतना परितोष नहीं मिल सकता, जितना पुरुषों और व्यवसायी वर्ग की स्त्रियों को दूसरे प्रकार के कामों से मिलता है।

अधिकांश कार्यों में मनुष्य को यह सन्तोष होता है कि वक़्त कट रहा है और साथ ही उनमें उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा की तृप्ति के भी कुछ-न-कुछ अवसर मिलते हैं। इनके कारण ऐसा व्यक्ति भी, जिसका कार्य बहुत नीरस हो, बेकार बैठे रहने वाले व्यक्ति से अधिक सुखी रह सकता है। परन्तु साथ ही यदि काम रुचिकर भी हो तो उससे उकताहट से मुक्ति पाने के सन्तोष की अपेक्षा उच्चतर सन्तोष मिल सकता है। जो काम रुचिकर होते हैं उन्हें हम कई श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहले मैं उन कामों की चर्चा करूँगा जो साधारण रूप से रुचिकर होते हैं और अन्त में उन कामों की, जो किसी महान् व्यक्ति की समस्त शक्तियों को

आत्मसात् कर सकते हैं।

कोई भी काम दो मूल तत्त्वों के कारण रुचिकर होता है। पहला तत्त्व है दक्षता के उपयोग का अवसर और दूसरा है निर्माण।

यदि किसी व्यक्ति ने कोई असाधारण दक्षता प्राप्त कर ली है तो उसे इसका उपयोग करने में बहुत आनन्द मिलता है। और यह आनन्द उसे तब तक मिलता रहता है, जब तक कि बहुत अधिक अभ्यास होने के कारण वह इस दक्षता का उपयोग यंत्रवत् न करने लगे या उसमें अधिक उन्नति की सम्भावना न रहे। कार्य का यह प्रेरणा-हेतु बहुत बचपन से ही आरम्भ होता है। जो लड़का सिर के बल खड़ा हो सकता है वह पैरों पर खड़ा होना नहीं चाहता। अधिकतर कार्यों में कुछ उसी तरह की खुशी मिलती है जैसी कि उन खेलों से मिलती है जिनमें दक्षता की आवश्यकता होती है। किसी वकील या राजनीतिज्ञ को अपने काम से बहुत-कुछ उसी प्रकार की खुशी मिलती है जिस प्रकार की ब्रिज के खेल में मिल सकती है। वकील या राजनीतिज्ञ को अपने काम में केवल दक्षता का ही उपयोग नहीं करना पड़ता, उसे अपने दक्ष प्रतियोगी को हराना भी पड़ता है। जहां इस प्रकार की कोई प्रतियोगिता न भी करनी पड़े वहां भी दुःसाध्य कार्यों को करना आनन्द का कारण होता है। जो व्यक्ति हवाई जहाज में करतब दिखा सकता है, उसे अपने इस काम में इतनी खुशी मिलती है कि वह इसके लिए अपनी जान तक को खतरे में डालने को तत्पर रहता है। मेरा विचार है कि किसी योग्य शल्य-चिकित्सक को भी अपने काम की दुःखद परिस्थितियों के बावजूद उसे ठीक प्रकार से कर लेने पर सन्तोष का अनुभव होता है। इनसे छोटे कामों में भी इसी प्रकार की खुशी मिल सकती है, यद्यपि उसकी तीव्रता कुछ कम हो सकती है। कुछ ऐसे नलसाजों के बारे में भी मैंने सुना है कि जिन्हें अपने काम में बहुत आनन्द आता है, यद्यपि मुझे किसी ऐसे नल-साज से मिलने का अवसर नहीं मिला। ऐसे सब काम आनन्ददायक हो सकते हैं, जिनमें दक्षता की आवश्यकता हो, किन्तु शर्त यह है कि

इस दक्षता के स्वरूप में परिवर्तन की या अनन्त प्रगति की सम्भावना भी हो। यदि ऐसा न हो तो दक्षता की चरम सीमा पर पहुँचने के बाद काम नीरस हो जाएगा। जो व्यक्ति तीन मील की दौड़ में भाग लेता है वह यदि अब इस स्थिति में न रहा हो कि अपने पिछले रिकार्डों को तोड़ सके तो दौड़ में उसे कोई खुशी नहीं मिलेगी। सौभाग्य से बहुत-से कामों में, नई परिस्थितियों के कारण नई दक्षता की आवश्यकता होती है और व्यक्ति अधेड़ होने तक निरन्तर प्रगति करता रह सकता है। कुछ कार्यों में जैसे राजनीति में, लोग साठ से सत्तर वर्ष तक की आयु में ही प्रगति की चरम सीमा पर पहुँचते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कामों में दूसरे लोगों के सम्बन्ध में व्यापक अनुभव आवश्यक होता है। इसीलिए कोई सफल राजनीतिज्ञ सत्तर वर्ष की आयु में अपने अन्य सम-वयस्कों की अपेक्षा अधिक सुखी रह सकता है। इस क्षेत्र में उसका मुक़ा-बला केवल बड़े-बड़े व्यापारी ही कर सकते हैं।

उत्कृष्ट कार्य में एक और मूल तत्त्व होता है जो सुख के स्रोत के रूप में दक्षता के उपयोग से भी अधिक सहायक होता है। यह है रचनात्मकता का तत्त्व। अधिकांश कार्यों में तो नहीं किन्तु कुछ कार्यों में किसी ऐसी वस्तु का निर्माण किया जाता है जो काम समाप्त हो जाने के उपरान्त स्मारक के रूप में रह जाती है। निर्माण और विनाश में भेद करने के लिए एक कसौटी नीचे बताई जा रही है। निर्माण में प्रारम्भिक अवस्था अपेक्षाकृत आकस्मिक होती है, जबकि अन्तिम अवस्था में किसी प्रयोजन को मूर्त्त रूप दिया जाता है। विनाश में स्थिति ठीक उलटी होती है। प्रारम्भिक अवस्था किसी प्रयोजन का साकार रूप होती है जबकि अन्तिम अवस्था केवल आकस्मिक होती है अर्थात् विनाश करने वाले का एकमात्र उद्देश्य ऐसी स्थिति उत्पन्न करना होता है जो किसी भी प्रयोजन का मूर्त रूप नहीं होती। यह कसौटी बिलकुल शाब्दिक और स्पष्ट अर्थों में, अर्थात् भवनों के निर्माण और उन्हें विनष्ट करने के कार्यों पर अक्षरशः लागू होती है। भवन के निर्माण में किसी पूर्व-निश्चित योजना को कार्य-

रूप दिया जाता है, जबकि उसे विनष्ट करने में यह निश्चय नहीं किया जाता कि भवन को तोड़ने के उपरान्त मलवा किस प्रकार रखा जाएगा। इसमें सन्देह नहीं कि अकसर निर्माण के लिए विनाश की आवश्यकता होती है : ऐसी स्थिति में वह निर्माणात्मक प्रयोजन का ही एक अंश है। परन्तु अकसर कोई व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिनमें भावी निर्माण की कोई योजना नहीं होती और जिनका एकमात्र उद्देश्य विनाश ही होता है। अकसर वह इस तथ्य को अपने-आपसे भी छिपाता है और इस प्रयोजन से वह इस विश्वास का आश्रय लेता है कि वह विनाश नव-निर्माण के लिए कर रहा है, किन्तु उससे भावी निर्माण के बारे में पूछा जाए तो उसके इस ढोंग का—यदि वह वास्तव में ढोंग है—भेद खुल सकता है। आप देखेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर वह अस्पष्ट शब्दों में और बिना किसी उत्साह के देगा जबकि प्रारम्भिक विनाश के विषय में उसने उत्साह के साथ ठीक-ठीक बातें बताई थीं। यह बात बहुत-से क्रांतिकारियों युद्धवादियों और हिंसा के अन्य उपासकों पर लागू होती है। वे सामान्यतः अनजाने में ही घृणा से प्रेरित होते हैं। जिस चीज़ से उन्हें घृणा है उसका विनाश ही उनका असली प्रयोजन है। विनाश के उपरान्त क्या होना है, इस प्रश्न के प्रति वे अपेक्षाकृत उदासीन रहते हैं। मैं यह मानता हूँ कि विनाश के काम में भी रचनात्मक कार्यों की तरह आनन्द मिल सकता है। शायद इसमें आनन्द का अधिक तीव्र अनुभव हो सकता है, किन्तु इसमें गहरी तृप्ति प्रदान करने की उतनी शक्ति नहीं होती जितनी रचनात्मक कार्य से मिलने वाले आनन्द में होती है। इसका कारण यही है कि विनाश-कार्य के परिणाम से बहुत थोड़ा संतोष मिलता है। आप अपने शत्रु को मार डालते हैं और उसके मर जाने के बाद आपका काम समाप्त हो जाता है और विजय से होने वाला संतोष शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। दूसरी ओर रचनात्मक कार्य जब समाप्त हो जाता है तो उसके उपरान्त भी उसके बारे में सोचकर आनन्द का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त रचनात्मक कार्य कभी भी इतना पूरा नहीं होता कि

उसमें सुधार की कोई सम्भावना ही न रहे। सबसे अधिक तृप्तिदायक प्रयोजन वे हैं जो व्यक्ति को निरन्तर एक सफलता से दूसरी सफलता की ओर अग्रसर करते हैं और यह क्रम कभी भी समाप्त नहीं होता। इस दृष्टि से निर्माण विनाश की अपेक्षा सुख का अधिक बड़ा स्रोत है। शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि निर्माण में सन्तोष का अनुभव करने वाले लोगों का सन्तोष उस सन्तोष से कहीं अधिक है जो विनाश चाहने वालों को विनाश-कार्य में मिलता है, क्योंकि यदि आपका मन एक बार घृणा से भर जाएगा तो निर्माण में भी आप सहज रूप से उतने आनन्द का अनुभव न कर सकेंगे जितना किसी और व्यक्ति के लिए सम्भव है।

इसके साथ ही घृणा से मुक्त होने में किसी महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य से जितनी सहायता मिल सकती है, उतनी बहुत कम चीज़ों से मिल सकती है।

किसी बहुत बड़े रचनात्मक उद्यम में सफलता प्राप्त होने से जिस असीम सन्तोष का अनुभव होता है वैसा सन्तोष जीवन में बहुत कम ही मिलता है, यद्यपि दुर्भाग्यवश इस प्रकार का सन्तोष असाधारण योग्यता वाले व्यक्तियों के लिए ही सम्भव है। किसी कार्य में सफलता की उप-लब्धि से किसी व्यक्ति को जो सुख मिलता है, उसे कोई भी तब तक नष्ट नहीं कर सकता, जब तक कि यह साबित न कर दिया जाए कि उसका काम घटिया था। यह सन्तोष अनेक प्रकार से मिल सकता है। जो व्यक्ति अपनी सिंचाई की योजना से किसी मरुभूमि को हरे-भरे खेतों में परिवर्तित कर देता है उसके सन्तोष का आधार वास्तविक और ठोस है। किसी संस्था का निर्माण बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है। इसी प्रकार जिन राजनेताओं ने अव्यवस्था में से एक व्यवस्थित समाज के निर्माण के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया है उनका काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमारे युग में इस प्रकार के राजनेताओं में लेनिन सर्वोपरि हैं। कलाकारों और वैज्ञानिकों के कार्य सबसे स्पष्ट उदाहरण

है। शेक्सपियर ने अपनी कविता के विषय में लिखा है—"जब तक मनुष्य में प्राण हैं और जब तक आँखें देख सकती हैं तब तक यह जीवित रहेगी।" और इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक उसके दुर्भाग्य का सम्बन्ध है इस विचार से उसे बहुत सान्त्वना मिली होगी। अपने सॉनेटों में उसने लिखा है कि मित्र की स्मृति के सहारे वह फिर जीवन से समझौता कर सका, किन्तु मैं यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि इस प्रयोजन की सिद्धि में मित्र से अधिक मित्र के प्रति निवेदित सॉनेटों ने योग दिया होगा। महान् कलाकारों और वैज्ञानिकों के कार्य अपने-आप में आनन्द-दायक होते हैं। अपने कार्यों के कारण उन्हें उन लोगों का सम्मान प्राप्त होता है, जिनका सम्मान प्राप्त करने का बहुत महत्त्व है। इससे उन्हें एक ऐसी शक्ति मिलती है जिसमें बहुत तत्त्व होता है—यह है लोगों के विचारों और भावनाओं पर प्रभुत्व प्राप्त करने की शक्ति। स्वयं अपने को अच्छा समझने के लिए भी उनके पास बहुत ठोस कारण होते हैं। आप सोच सकते हैं कि ऐसी अनुकूल परिस्थितियों का योग किसी भी व्यक्ति के सुख के लिए पर्याप्त है। परन्तु ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए माइकेल एंजेलो बहुत दुःखी था और उसका विचार था (मुझे विश्वास है कि यह उसका असली विचार नहीं था) कि यदि उसे अपने निर्धन सम्बन्धियों का कर्ज़ा चुकाने की फ़िक्र न होती तो वह चित्र न बनाता। हमेशा तो नहीं, किन्तु अकसर महान् कला की रचना करने की सामर्थ्य का सम्बन्ध स्वभावगत दुःख से होता है। यह दुःख इतना असह्य होता है कि यदि कलाकार के जीवन में वह आनन्द भी न होता, जिसका अनुभव वह अपने काम में करता है, तो वह आत्महत्या कर लेता। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि सर्वोत्कृष्ट कार्य से भी व्यक्ति को अवश्य सुख मिलेगा। हम केवल यह कह सकते हैं कि उससे व्यक्ति के दुःख में कमी अवश्य होगी। परन्तु कलाकारों की अपेक्षा वैज्ञानिक स्वभावतः अकसर बहुत कम दुःखी रहते हैं और विशेष रूप से जो लोग विज्ञान के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं। उन्हें

यह सुख मुख्यतः अपने काम से ही प्राप्त होता है।

इस युग में बौद्धिकों के दुःखी रहने का एक कारण यह भी है कि उनमें से बहुत-से लोगों को, विशेषकर साहित्यिकों को, स्वतन्त्र रूप से अपनी योग्यताओं का उपयोग करने का अवसर नहीं मिलता, बल्कि उन्हें अपने को ऐसी संस्थाओं के हाथ बेच देना पड़ता है जिनका संचालन उजड्ड लोग करते हैं। ये उजड्ड संचालक उनसे ऐसी रचनाओं का आग्रह करते हैं, जिन्हें वे स्वयं बकवास समझते हैं। यदि आप इंग्लैण्ड या अमेरिका के पत्रकारों से पूछें कि जिन समाचारपत्रों में वे काम करते हैं उनकी नीति पर उनका विश्वास है या नहीं, तो मुझे विश्वास है कि आपको बहुत थोड़े लोग मिलेंगे जो अपने समाचारपत्र की नीति पर विश्वास रखते हों। बाक़ी सब लोग जीविका के लिए अपने कौशल का दुरुपयोग करते हुए ऐसे प्रयोजनों के लिए काम करते दिखाई देंगे, जिन्हें वे स्वयं हानिकर समझते हैं। इस प्रकार के काम से सच्चा सन्तोष नहीं मिल सकता और अपने-आपको ऐसे कार्य के अनुकूल बनाने के फलस्वरूप व्यक्ति इतना अनास्थावान् हो जाता है कि किसी भी चीज़ से उसे हार्दिक सन्तोष नहीं मिल सकता। जो लोग इस प्रकार का काम करते हैं उनकी मैं निन्दा नहीं कर सकता क्योंकि भूखों मरने की स्थिति भी बहुत भयंकर है, किन्तु मेरे विचार में यदि किसी व्यक्ति के लिए फ़ाक़ा का सामना किए बिना कोई ऐसा काम करना सम्भव हो, जिसमें उसकी रचनात्मक वृत्ति की तुष्टि हो सकती है, तो अपने सुख की दृष्टि से उसे यही काम करना चाहिए और ऐसे काम को स्वीकार न करना चाहिए जो आय की दृष्टि से तो बहुत अच्छा हो किन्तु जिसे वह पसन्द न करता हो। आत्म-सम्मान के बिना सच्चा सुख शायद ही सम्भव है। और जिस व्यक्ति को स्वयं अपने काम से लज्जा होती हो उसमें शायद ही आत्म-सम्मान का भाव आ सके।

यद्यपि वर्तमान स्थिति में अधिकांश लोगों के लिए रचनात्मक कार्यों के द्वारा सन्तोष प्राप्त करना सम्भव नहीं है, फिर भी यह श्रेय बहुत-से लोगों को प्राप्त हो सकता है। जो आदमी अपने काम में अपना मालिक

आप है वह इस सन्तोष का अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति ऐसा कार्य कर रहा है जो उसकी दृष्टि में उपयोगी है और जिसमें दक्षता की आवश्यकता है तो उसे भी सन्तोष का अनुभव होगा। अच्छी सन्तति उत्पन्न करना एक ऐसा कठिन रचनात्मक कार्य है जिसमें गहरे सन्तोष का अनुभव हो सकता है। जो स्त्री इसमें सफल हो चुकी है वह महसूस कर सकती है कि उसकी प्रसव-वेदना की परिणति एक ऐसी अनमोल वस्तु में हुई है जो अन्यथा अस्तित्व में नहीं आ सकती थी।

जहाँ तक जीवन को समष्टि के रूप में देखने का सम्बन्ध है, लोगों की वृत्तियाँ एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती हैं। कुछ लोगों का विचार है कि जीवन को समष्टि के रूप में ही देखना स्वाभाविक है और इसकी सन्तोष-जनक योग्यता उनकी दृष्टि में सुख के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुछ लोगों की दृष्टि में जीवन ऐसी घटनाओं का क्रम-मात्र है जिनका एक-दूसरे से न तो कोई सम्बन्ध है और न ही जिनमें कोई निर्दिष्ट गति और अन्विति है। मेरा विचार है कि पहले प्रकार के लोग सुख की उपलब्धि में अधिक सफल हो सकते हैं, क्योंकि वे धीरे-धीरे ऐसी परिस्थितियाँ बना लेंगे जिनमें उन्हें सन्तोष और आत्म-सम्मान का अनुभव हो सकेगा, जबकि दूसरे प्रकार के लोग परिस्थितियों की धारा में कभी इधर, कभी उधर बहते रहेंगे और वे कभी भी तट पर नहीं पहुँच सकेंगे। जीवन को समष्टि के रूप में देखने की मनोवृत्ति बुद्धिमत्ता और सच्ची आचार-नीति दोनों का ही आवश्यक अंग है और शिक्षा में इसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। प्रयोजन की अनन्यता जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह सुखी जीवन की एक अनिवार्य शर्त है और प्रयोजन की अनन्यता मुख्यतः काम में ही प्रकट होती है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

निर्वैयक्तिक रुचियाँ

इस अध्याय में मैं उन मुख्य रुचियों की चर्चा करना नहीं चाहता जो किसी व्यक्ति के जीवन का केन्द्र होती हैं। यहाँ मैं उन मामूली रुचियों के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ, जिनसे किसी व्यक्ति के अवकाश की पूर्ति होती है और जिनसे उसे अपने अधिक गम्भीर कार्यों के बीच विश्राम के अवसर मिलते हैं। साधारण व्यक्ति के विचारों और चिन्ताओं का केन्द्र उसके बीवी-बच्चे, उसका कार्य और उसकी आर्थिक स्थिति ही होती है। अपनी पत्नी के अतिरिक्त यदि किसी स्त्री से उसके प्रेम-सम्बन्ध हों तो भी ये अपने-आपमें उसके लिए बहुत चिन्ता का कारण नहीं होते। उनसे उसके पारिवारिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ सकता है, इसकी चिन्ता उसे अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। जिन रुचियों का उसके काम से सम्बन्ध है उनकी गणना फ़िलहाल मैं निर्वैयक्तिक रुचियों में नहीं कर रहा हूँ। उदाहरण के लिए किसी वैज्ञानिक को ऐसे अनुसंधान-कार्यों का ज्ञान होना चाहिए जो उसके विषय में होते रहते हैं। इस प्रकार के अनुसंधान के प्रति वह ऐसे उत्साह का अनुभव करता है जिसका अनुभव उसे अपने व्यवसाय से सम्बन्धित किसी चीज़ में होता है। परन्तु यदि वह किसी ऐसे वैज्ञानिक विषय के अनुसंधान-कार्यों का अध्ययन करता है, जिसका सम्बन्ध उसके व्यवसाय से नहीं है, तो इस अध्ययन का स्वरूप सर्वथा भिन्न होता है। ऐसे विषय का अध्ययन वह अपने व्यवसाय को ध्यान में रखकर नहीं करता। इस प्रकार का अध्ययन वह आलोचनात्मक दृष्टि से कम करता है और उसमें किसी विशेष उद्देश्य का

प्रधानता भी बहुत कम होती है। यदि ऐसे विषय को समझने के लिए उसे अपने मस्तिष्क पर जोर भी देना पड़े तो भी यह उसके लिए एक प्रकार का मनोरंजन ही है, क्योंकि इस अध्ययन का उसकी ज़िम्मेदारियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि इस विषय की पुस्तक में उसे रुचि मिले तो उसकी यह रुचि एक दृष्टि से निर्वैयक्तिक होगी, किन्तु जहाँ तक उसके अपने विषय की पुस्तकों का सम्बन्ध है, यह बात लागू नहीं हो सकती। इस अध्याय में मैं इसी प्रकार की रुचियों की चर्चा करना चाहता हूँ, जो किसी व्यक्ति के मुख्य कार्य-क्षेत्र के बाहर हैं।

किसी व्यक्ति के दुःख, थकान और स्नायविक तनाव का एक कारण यह भी है कि उसमें किसी ऐसी चीज़ में रुचि लेने की सामर्थ्य न हो जो उसके लिए व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी न हो। इसका परिणाम यह होता है कि सचेतन मन दो-चार समस्याओं में ही उलझा रहता है और इनमें से प्रत्येक के साथ सम्भवतः कोई-न-कोई चिन्ता और परेशानी लगी होती है। नींद के अतिरिक्त कभी भी सचेतन मन को विश्राम का अवसर नहीं मिलता, जबकि अवचेतन की विचार-शृंखला क्रमिक रूप से परिपक्व होती रहती है। इसके फलस्वरूप आदमी के स्वभाव में उत्तेजनीयता और चिड़चिड़ाहट आ जाती है तथा वह समझ और समानुपात का भाव खो बैठता है। ये सब थकान का कारण भी हैं और उसका परिणाम भी। जब मनुष्य बहुत थक जाता है तो उसकी बाह्य रुचियाँ बहुत कम हो जाती हैं और जब ये कम हो जाती हैं तो उनसे मिलने वाले सन्तोष से वह वंचित हो जाता है। इस प्रकार उसकी थकान और भी बढ़ जाती है। इस दुश्चक्र की परिणति स्नायु-भ्रंश में ही हो सकती है। बाह्य रुचियों में किसी कार्य की आवश्यकता नहीं होती और इसलिए वे शांति-प्रद होती हैं। निर्णय करना और इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते रहना ऐसे कार्य हैं जो आदमी को बहुत थका डालते हैं—विशेषकर जब यह सब बहुत जल्दी और अवचेतन की सहायता के बिना ही करना पड़े। जो लोग यह महसूस करते हैं कि किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचने से पहले सोकर

उसके विषय में सब-कुछ भूल जाना आवश्यक है, उनका विचार बहुत सही है। परन्तु अवचेतन मन की क्रियाएँ निद्रा की अवस्था तक ही सीमित नहीं हैं। जब आदमी का चेतन मन किसी और दिशा में प्रवृत्त हो उस समय भी अवचेतन मन अपना प्रभाव डाल सकता है। जिस आदमी में यह सामर्थ्य हो कि वह दिन का काम समाप्त कर लेने के बाद दूसरे दिन तक के लिए—जब उसका काम फिर आरम्भ होगा—अपने काम को भूल जाए, वह सम्भवतः ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा अपना काम ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है जो अपना यह समय भी काम की चिन्ता में ही बिता देता है। यदि व्यक्ति अपने काम के अतिरिक्त और बहुत-सी चीज़ों में रुचि लेता हो तो वह ऐसे क्षणों में अपने काम को बहुत आसानी के साथ भूले रह सकता है जब उसे भूल जाना ही उपयुक्त है। जो व्यक्ति बहुत-सी चीज़ों में रुचि नहीं लेता उसके लिए यह अपेक्षाकृत कठिन है। परन्तु यह आवश्यक है कि इन रुचियों में व्यक्ति को उन्हीं शक्तियों का प्रयोग न करना पड़े जो दिन-भर के काम के कारण क्षीण हो चुकी हों। ये रुचियाँ इस प्रकार की नहीं होनी चाहिएँ कि इच्छा-शक्ति का प्रयोग करने और तत्काल निर्णय करने की आवश्यकता हो। इनमें आर्थिक लाभालाभ का भी कोई प्रश्न नहीं होना चाहिए, जैसा कि जुए में होता है। सिद्धान्त रूप से ये इतनी उत्तेजक भी नहीं होनी चाहिएँ कि भावात्मक थकान पैदा कर दें और अवचेतन मन तथा सचेतन मन दोनों पर हावी हो जाएँ।

बहुत-से मनोविनोद इस कसौटी पर पूरे उतरते हैं। खेल देखना, नाटक देखना, गॉल्फ़ खेलना—इस दृष्टि से ये सब सराहनीय हैं। जिस व्यक्ति को पुस्तकें पढ़ने का शौक़ है उसके लिए ऐसी पुस्तकों का अध्ययन, जो उसके व्यवसाय से सम्बद्ध न हों, बहुत सन्तोषप्रद कार्य है। कोई चिन्ता कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, काम के दौरान में हमेशा उसी में डूबे रहना ठीक नहीं है।

इस दृष्टि से पुरुषों और स्त्रियों में बहुत बड़ा भेद है। सामान्यतः

पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अपने काम को अधिक आसानी के साथ भूल सकते हैं। जो स्त्रियाँ अपने घर का ही काम-काज करती हैं उनके लिए यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक नई मनोदशा की प्रेरणा देने के लिए स्थान-परिवर्तन की वह सुविधा उन्हें प्राप्त नहीं होती, जो पुरुष को कार्यालय से निकलने पर मिल जाती है। परन्तु यदि यह मेरी भ्रान्ति नहीं है तो मैं कह सकता हूँ कि जो स्त्रियाँ घर के बाहर काम करती हैं वे भी इस दृष्टि से पुरुषों से उतनी ही भिन्न होती हैं जितनी कि घर का काम-काज करने वाली स्त्रियाँ। उनके लिए किसी ऐसी चीज़ में रुचि लेना कठिन होता है जो उनके लिए व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी न हो। उनके विचार और कार्य उनके प्रयोजन के द्वारा नियन्त्रित होते हैं और वे शायद ही कभी किसी ऐसी चीज़ में बहुत अधिक रुचि लेती हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी न हो। मैं स्वीकार करता हूँ कि कुछ स्त्रियाँ सर्वथा भिन्न भी हो सकती हैं, किन्तु मैं तो एक सामान्य तथ्य की ओर संकेत कर रहा हूँ। उदाहरण के लिए स्त्रियों के कॉलेज में शाम के समय अध्यापिकाएं—यदि कोई पुरुष वहाँ न हो—केवल अपने व्यवसाय की ही बातें करेंगी जब कि पुरुषों के किसी कॉलेज में अध्यापक केवल अपनी व्यावसायिक समस्याओं पर ही बातचीत नहीं करते। स्त्रियाँ अपनी इस विशेषता को पुरुषों के मुक़ाबले उच्चकोटि की कर्तव्य-परायणता समझती हैं, किन्तु मैं नहीं समझता कि इससे अन्ततः उनके काम का स्तर ऊँचा होता है। इससे उनके दृष्टिकोण में एक प्रकार की संकीर्णता आने लगती है, जो बहुधा उन्हें अन्धविश्वास की ओर ले जाती है।

समस्त निर्वैयक्तिक रुचियाँ विनोद की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण होती ही हैं, इसके अतिरिक्त उनके कई और लाभ भी हैं। सबसे पहले तो यह कि समानुपात के भाव को बनाए रखने में उनसे सहायता मिलती है। अपनी अभिरुचियों, अपनी मण्डली और अपने विशिष्ट कार्य में हम बहुत आसानी के साथ इतने अधिक तल्लीन हो सकते हैं कि हमें इस बात का ध्यान ही न रहे कि यह सब सम्पूर्ण मानव कार्य-कलापों का

कितना क्षुद्र अंश है और संसार की कितनी ही वस्तुएं हैं जिन पर हमारे कार्यों का ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ता। आप पूछ सकते हैं—इस बात को याद रखने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। पहले तो यह कि हमारे मन में संसार का ऐसा यथार्थ चित्र होना ही चाहिए जो हमारे आवश्यक कार्यकलापों के अनुरूप हो। हममें से कोई भी इस संसार में बहुत लम्बे काल तक नहीं रहेगा और इस विचित्र ग्रह तथा ब्रह्माण्ड में उसके स्थान के विषय में हमें जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करना है उसे हम अपने जीवन के कुछ वर्षों में ही प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानार्जन के जो अवसर हमें मिलते हैं—यद्यपि वे अपूर्ण हैं—उनकी उपेक्षा करना कुछ ऐसा ही है जैसे हम थियेटर तो जाएं, किन्तु नाटक के वार्तालाप न सुनें। संसार ऐसी वस्तुओं से भरा पड़ा है जो कारुणिक हैं या हास्यास्पद, वीरोचित हैं या अनोखी अथवा आश्चर्यजनक ! और जो लोग इस दृश्य में रुचि नहीं ले सकते, वे एक ऐसे लाभ से वंचित हो रहे हैं जो जीवन से उन्हें मिल सकता है।

इसके अतिरिक्त समानुपात की भावना बहुत उपयोगी होती है और कभी-कभी उससे बहुत सांत्वना मिलती है। संसार के जिस छोटे-से कोने में हम लोग रहते हैं उसे और अपने जीवन-काल की क्षण-भर की अवधि को बहुत अधिक महत्व देने, उससे बहुत अधिक उत्तेजित होने और बहुत अधिक प्रभावित होने की प्रवृत्ति हम सबमें होती ही है। यह उत्तेजना और अपने महत्त्व को बढ़ाकर अन्दाजा लगाने की यह वृत्ति किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। यह तो सम्भव है कि इसके कारण हम अपना काम अधिक परिश्रम के साथ करने लगें, किन्तु इससे अपने काम को ज्यादा अच्छी तरह करने में कोई सहायता नहीं मिलेगी। किसी अच्छे लक्ष्य के लिए किया गया थोड़ा काम किसी बुरे लक्ष्य के लिए किए जाने वाले बहुत अधिक कार्य से कहीं अच्छा है; यद्यपि परिश्रमी जीवन के समर्थक इसके विपरीत सोचते दिखाई देते हैं। जिन लोगों को अपने काम की बहुत अधिक चिन्ता होती है वे अंधविश्वास के गढ़े में गिरने के खतरे

से हमेशा घिरे रहते हैं। अंधविश्वास में मुख्यतः एक-दो वांछनीय वस्तुओं पर ही विशेष आग्रह होता है, जबकि दूसरी सभी वस्तुओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और यह मान लिया जाता है कि इन एक-दो वस्तुओं की प्राप्ति में यदि दूसरी वस्तुओं को संयोगवश कोई हानि पहुँचे भी तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। इस अंधविश्वास का निवारण सबसे अच्छी तरह मनुष्य के जीवन और विश्व में उसके स्थान की विशद संकल्पना द्वारा ही सम्भव है। इस प्रसंग में यह बात बहुत बड़ी प्रतीत हो सकती है, किन्तु इस विशिष्ट उपयोगिता के अतिरिक्त भी, इस प्रकार की संकल्पना अपने-आपमें बहुत मूल्यवान है।

आधुनिक उच्च शिक्षा की एक खामी यह भी है कि वह बहुत बड़ी हद तक विशेष प्रकार की दक्षताओं में प्रशिक्षित करने की एक प्रणाली बनकर रह गई है और संसार के निष्पक्ष सर्वेक्षण द्वारा मन और हृदय की विशदता को उसमें बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, आप किसी राजनीतिक संघर्ष में जी-जान से लगे हुए हैं और अपने दल की विजय के लिए बहुत परिश्रम कर रहे हैं। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु हो सकता है कि संघर्ष के दौरान में विजय प्राप्त करने का ऐसा कोई मार्ग दिखाई दे जिसमें ऐसे तरीकों से काम लेना पड़े, जिनसे संसार में घृणा, हिंसा और सन्देह में वृद्धि होती हो। उदाहरणार्थ, आप सोच सकते हैं कि विजय प्राप्त करने का सबसे अच्छा मार्ग यह है कि किसी अन्य राष्ट्र का अपमान किया जाए। यदि आपका मानसिक क्षितिज वर्तमान तक सीमित है या यदि आपका विश्वास है कि केवल तथाकथित कौशल ही महत्त्वपूर्ण है, तो आप ऐसे द्विविधायुक्त साधनों से काम लेने लगेंगे। इनसे आप अपने तात्कालिक प्रयोजन में तो सफल हो जाएँगे, किन्तु आगे चलकर इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। इसके विपरीत यदि मानव-इतिहास के पिछले युगों, बर्बरता की परिधि से मनुष्य की धीरे-धीरे और आंशिक रूप से बाहर निकलने की क्रिया और ज्योतिषीय युगों की तुलना में उसके सम्पूर्ण जीवन की अल्पता का ज्ञान

आपकी मानसिक रचना का एक अभिन्न अंग बन चुका है—यदि आपकी भावनाओं में ऐसे विचारों का योग है तो आप अनुभव करेंगे कि आप जिस क्षणिक युद्ध में लगे हुए हैं वह इतना महत्त्वपूर्ण कभी नहीं हो सकता कि उसके लिए उस अंधकार की ओर लौटने का खतरा मोल ले लें, जिससे हम धीरे-धीरे निकल रहे हैं। इतना ही नहीं, यदि आप अपने तात्कालिक ध्येय में विफल रहें तो इस ध्येय के क्षणिक होने की उसी भावना से, जिसने आपको पतित साधनों से काम लेने से रोके रखा था, आप इस विफलता को भी सहन कर लेंगे। तात्कालिक कार्यों के परे आपके कुछ ऐसे प्रयोजन होंगे जिनकी पूर्ति में बहुत दिन लगेंगे और जिनकी रूपरेखा धीरे-धीरे स्पष्ट होगी तथा जिनमें आप अपने को अकेला नहीं पाएँगे, बल्कि आप उन असंख्य लोगों में से एक होंगे, जिन्होंने एक सभ्य जीवन की ओर मानव-जाति का नेतृत्व किया है। यदि आपने यह दृष्टिकोण अपना लिया है तो व्यक्तिगत रूप से आपका भाग्य चाहे जैसा भी हो, एक विशेष प्रकार के सुख का अनुभव आप हमेशा करते रहेंगे। समस्त युगों के महान् व्यक्तियों से आप मानसिक बन्धुत्व का अनुभव करेंगे और व्यक्तिगत विफलता एक नगण्य घटना-मात्र प्रतीत होगी।

यदि मुझे उच्च शिक्षा का अपनी इच्छानुसार संगठन करने का अधिकार होता तो मैं पुराने रूढ़िगत धर्मों के स्थान पर—जिनके प्रति बहुत थोड़े युवकों की ही रुचि होती है और ये सामान्यतः सबसे कम प्रज्ञावान् और सबसे अधिक ज्ञान-विरोधी होते हैं—ऐसी बातों की शिक्षा देने की कोशिश करता जो शायद ही धर्म की परिधि में आ सकतीं, क्योंकि ये सुविदित तथ्यों पर ही छात्रों का ध्यान केन्द्रित रखतीं। मैं कोशिश करता कि युवकों को अतीत का स्पष्ट ज्ञान हो और वे यह महसूस करें कि मनुष्य का भविष्य उसके अतीत की अपेक्षा सम्भवतः कहीं अधिक चिर-कालिक होगा। मैं चाहता कि जिस ग्रह में हम लोग रहते हैं उसकी क्षुद्रता का उन्हें बोध हो और इस तथ्य का उन्हें ज्ञान हो कि इस ग्रह पर मानव-जीवन केवल अस्थायी है। और इन तथ्यों के साथ ही—जिनसे व्यक्ति

की महत्त्वहीनता प्रकट होती है—मैं उन्हें ऐसी बातें भी बताना चाहता जिनसे उन्हें व्यक्ति की महत्ता का बोध हो सकता। मैं उन्हें बताता कि सारे अंतरिक्ष में कोई भी वस्तु उतनी मूल्यवान नहीं है जितना कि मनुष्य। स्पिनोज़ा मानव-बन्धन और मानव-स्वच्छन्दता के विषय में बहुत पहले लिख चुका है। उसकी शैली और भाषा के कारण दर्शन के विद्यार्थियों को छोड़कर दूसरे लोगों के लिए उसके विचारों को समझना बहुत कठिन हो जाता है, किन्तु जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह मूलतः स्पिनोज़ा के विचारों से कुछ अधिक भिन्न नहीं है।

जिस व्यक्ति को एक बार भी उन बातों का बोध हो चुका है जिनसे आत्मा महान् बनती है, वह छिछोरा, स्वार्थ-साधक और मामूली दुर्घटनाओं से व्याकुल होकर तथा भाग्य के लिखे से आतंकित होकर कभी भी सुखी नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति की आत्मा में महत्ता के लक्षण होंगे, वह अपने मन के वातायन को खुला रखेगा और विश्व के प्रत्येक भाग से आने वाली हवाओं को उनसे निर्बाध रूप से गुज़रने देगा। मानव-सीमाओं को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक उससे सम्भव होगा, वह अपने-आपको, जीवन को और संसार को यथार्थ रूप में देखेगा। मानव-जीवन की अल्पता और लघुता का अनुभव होने के साथ ही वह यह भी महसूस करेगा कि संसार में जो कुछ भी मूल्यवान् है, वह सब-का-सब व्यक्ति के मस्तिष्क में पुंजीभूत है। वह देखेगा कि जिस व्यक्ति का मन संसार का दर्पण है उसमें एक दृष्टि से उतनी ही विशालता आ जाती है जितनी कि संसार में है। जिन आशंकाओं से परिस्थितियों का दास आक्रांत रहता है, उनसे मुक्त होकर उसे गहरे आनन्द का अनुभव होगा और अपने बाहरी जीवन के सारे उतार-चढ़ाव के बावजूद वह अपने आन्तरिक जीवन में सुखी रहेगा।

इन विचारों से हटकर जब हम अपने असली विषय अर्थात् निर्वैयक्तिक रुचियों की उपयोगिता पर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि ये एक और दृष्टि से सुख में बहुत सहायक हो सकती हैं। बहुत अधिक सौभाग्यवान्

व्यक्तियों को भी अपने जीवन में कभी-न-कभी मुसीबत का सामना करना ही पड़ता है। कुंआरों को छोड़कर कुछ ही लोग ऐसे होंगे जिनका पत्नी से कभी भी झगड़ा न हुआ हो। ऐसे लोग बहुत थोड़े होंगे जिनको अपने बच्चों की बीमारी के कारण घोर चिन्ता का सामना न करना पड़ा हो। बहुत कम व्यापारी वित्तीय कठिनाइयों से हमेशा बचे रहे होंगे और बहुत थोड़े व्यवसाइयों को ऐसे क्षणों का सामना करना नहीं पड़ा होगा, जब विफलता अवश्यम्भावी प्रतीत हो रही हो। ऐसे समय में किसी ऐसी चीज में रुचि लेने की सामर्थ्य, जिसका चिन्ता के कारण से कोई भी सम्बन्ध न हो, बहुत बड़ा वरदान है। ऐसे क्षणों में—जब चिन्ता के बावजूद कुछ करना सम्भव नहीं होता—कोई व्यक्ति शतरंज खेलेगा, कोई जासूसी कहानियाँ पढ़ेगा, कोई सामान्य ज्योतिष का अध्ययन करेगा और किसीको चाल्डीज के उर की खुदाई के बारे में पढ़कर सन्तोष मिलेगा। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमानी का काम कर रहा है, किन्तु जो व्यक्ति अपने मन को किसी और दिशा में मोड़ने का प्रयत्न नहीं करता और अपने-आपको चिन्ता से पूर्णतः अभिभूत हो जाने देता है, वह मूर्खता का व्यवहार कर रहा है और अपने-आपको चिन्ताओं से निपटने में कम समर्थ बना रहा है। यही बात ऐसे दुःखों पर भी लागू होती है, जिनकी पूर्ति सम्भव नहीं होती जैसे किसी प्रिय जन की मृत्यु। ऐसे क्षणों में बहुत अधिक शोकग्रस्त होने से कोई लाभ नहीं होता। ऐसी स्थिति में शोक अनिवार्य और स्वाभाविक है, किन्तु जहाँ तक हो सके उसे कम करने का प्रयास करना चाहिए। किसी दुर्घटना से अत्यधिक दुखी हो जाना—जैसा कि कुछ लोग हो जाते हैं—भावुकता मात्र है। मैं यह मानता हूँ कि कोई व्यक्ति शोक-विह्वल हो सकता है, किन्तु जहाँ तक हो सके इस स्थिति से बचने की कोशिश करनी चाहिए और कोई ऐसा सहारा ढूँढ़ना चाहिए—चाहे वह बहुत मामूली ही क्यों न हो—जिससे उसका शोक कम हो सके। हाँ, यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यह सहारा अपने-आपमें हानिकर या अपमानजनक न हो। शराब और मादक द्रव्यों की गिनती में ऐसी ही

चीजों में करता हूँ जो सोचने की शक्ति को कुछ देर तक के लिए नष्ट कर डालती हैं। उचित मार्ग यह नहीं है कि सोचने की शक्ति को ही नष्ट कर दिया जाए, बल्कि यह कि उसे नई सरणियों में या कम-से-कम ऐसी सरणियों में लगाया जाए जिनका वर्तमान दुर्घटना से बहुत दूर का सम्पर्क हो। यदि किसी व्यक्ति का जीवन बहुत थोड़ी-सी रुचियों पर ही केन्द्रित हो और ये रुचियाँ भी अब दुःख से आप्लावित हो चुकी हों तो उसके लिए यह करना बहुत कठिन हो जाएगा। दुर्घटना को सहज करने के लिए आवश्यक है कि सुख के दिनों में आपकी रुचियाँ कुछ व्यापक रही हों, ताकि मन को कोई ऐसी प्रशस्त भूमि मिल सके जो वर्तमान को दुःसह बनाने वाली संगतियों और भावनाओं से भिन्न संगतियों और भावनाओं की द्योतक हो।

जिस व्यक्ति में पर्याप्त शक्ति और उत्साह होगा वह सभी दुर्घटनाओं को वशीभूत कर लेगा। प्रत्येक आक्रमण के बाद जीवन और संसार के प्रति उसकी रुचि—जो कभी भी इतनी संकीर्ण नहीं हो सकती कि कोई एक क्षति घातक हो जाए—फिर जागृत हो उठती है। एक या अनेक क्षतियों से पराजित हो जाना संवेदनशीलता का प्रमाण नहीं है जिसे अच्छा समझा जाए। वास्तव में यह शक्ति के अभाव का प्रमाण है और इसे निन्दनीय समझना चाहिए। हमारे सारे स्नेह मृत्यु के सामने विवश हैं। वह किसी भी समय हमारे प्रियजनों पर प्रहार कर सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन में वह संकीर्ण तीव्रता न हो जो हमारे जीवन के सारे अर्थ और प्रयोजन को दुर्घटना की दया पर छोड़ देती है।

इन्हीं सब कारणों से जो व्यक्ति बुद्धिमत्ता के साथ सुख प्राप्त करना चाहेगा, वह उन मुख्य रुचियों के अतिरिक्त, जो उसके जीवन का केन्द्र-बिन्दु होती हैं, अनेक गौण रुचियों को भी अपने जीवन में स्थान देगा।

सोलहवाँ अध्याय

प्रवृत्ति और निवृत्ति

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त एक अरुचिकर सिद्धान्त है और मुझे याद है कि मैं युवावस्था में इसे बहुत घृणा और आक्रोश के साथ अस्वीकार करता था, क्योंकि उन दिनों मैं वीरोचित अतिरेकों को ही पसन्द करता था। सत्य हमेशा रोचक नहीं होता और बहुत-सी बातों का विश्वास इसीलिए कर लिया जाता है कि वे रोचक होती हैं, यद्यपि कोई और अच्छाई उनमें कुछ ज्यादा नहीं होती। मध्यम मार्ग के सिद्धान्त को ही लीजिए। यह सिद्धान्त अरोचक तो हो सकता है, किन्तु बहुत-सी स्थितियों में यह सही सिद्ध होता है।

जहाँ तक प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच संतुलन स्थापित करने का सम्बन्ध है, मध्यम मार्ग पर चलने के सिद्धान्त का पालन आवश्यक है। दोनों ही मतों के बहुत कट्टर समर्थक हुए हैं। निवृत्ति का प्रचार सन्तों और अध्यात्मवादियों ने किया है और प्रवृत्ति का कुशलता-विशेषज्ञों और पौरुषवादी ईसाइयों ने। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचार-सम्प्रदायों के यहाँ आंशिक सत्य मिलता है, किन्तु पूरी सच्चाई किसी में भी नहीं है। इस अध्याय में मैं एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहता हूँ और इस विवेचन का आरम्भ मैं प्रवृत्ति के समर्थन से करूँगा।

कुछ गिनी-चुनी स्थितियों को छोड़कर सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल अनुकूल परिस्थितियों के कारण पके हुए फल की तरह आपके मुँह में आ जाए। इसीलिए मैंने इस पुस्तक को सुख की साधना की संज्ञा दी है। निवार्य और अनिवार्य दुर्घटनाओं, रोग और

मानसिक उलझनों, संघर्ष, निर्धनता तथा द्वेष से भरे इस संसार में यदि कोई व्यक्ति सुखी रहना चाहता है तो उसे दुःख के ऐसे अनेक कारणों का मुक़ाबला करने के उपाय ढूंढने पड़ेंगे जो हर व्यक्ति पर प्रहार करते हैं। हो सकता है कि कुछ गिनी-चुनी स्थितियों में इसके लिए अधिक उद्यम आवश्यक न हो। यदि किसी अच्छे और सरल स्वभाव के व्यक्ति को अपने माँ-बाप से बहुत धन मिला हो और वह बहुत स्वस्थ हो तथा उसके मिज़ाज में बहुत सादगी भी हो तो वह सुखी जीवन बिता सकता है और सोच सकता है कि यह सब क्या बकवास है। इसी प्रकार यदि आलसी स्वभाव की कोई सुन्दर स्त्री किसी ऐसे धनी पुरुष से विवाह कर ले जो उससे परिश्रम की अपेक्षा न करता हो और यदि वह स्त्री विवाह के बाद मोटा होने को बुरा न समझती हो, तो वह भी अपने जीवन में कुछ सुख का भोग कर सकती है, किन्तु शर्त यह है कि उसे अपने बच्चों की ओर से कोई चिन्ता न हो। परन्तु ऐसी स्थितियाँ अपवाद-स्वरूप हैं। अधिकांश लोग धनी नहीं होते। बहुत-से लोग अच्छे स्वभाव के नहीं होते। बहुत-से लोगों की वासनाएँ इतनी अस्थिर होती हैं कि शान्त और सुनियंत्रित जीवन उनके लिए असह्य रूप से नीरस हो जाता है। स्वास्थ्य ईश्वर की ऐसी देन है जिसके सुरक्षित रहने का विश्वास किसी भी व्यक्ति को नहीं हो सकता। विवाह सदा ही आनन्द का स्रोत नहीं होता। इन कारणों से अधिकांश पुरुष-स्त्रियों को प्रयत्न द्वारा सुख की उपलब्धि करनी होगी, वह उनके लिए ईश्वर का वरदान नहीं हो सकता। सुख की इस उपलब्धि में आन्तरिक तथा बाह्य, दोनों प्रकार का उद्यम आवश्यक है। आंतरिक उद्यम में आवश्यक निवृत्ति का उद्यम भी सम्मिलित हो सकता है, इसलिए अभी हम केवल बाह्य उद्यम पर ही विचार करेंगे।

जिस किसी व्यक्ति को—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—जीविका के लिए काम करना पड़ता है, उसके लिए उद्यम की आवश्यकता इतनी स्पष्ट है कि इसके महत्त्व के बारे में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

यह सच है कि भारतीय साधु धर्मपरायण व्यक्तियों से भीख मांगकर जीविका प्राप्त कर सकता है, परन्तु पश्चिमी देशों में अधिकारी जीविकोपार्जन के इस तरीके को पसन्द नहीं करते। इसके अतिरिक्त जलवायु के कारण यहाँ भीख माँगना उतना आनन्ददायक नहीं होता, जितना कि गरम और शुष्क देशों में। बहुत थोड़े लोग इतने आलसी होंगे कि जाड़े के दिनों में गरम कमरों में काम करने की अपेक्षा बाहर बेकार रहना पसन्द करें। इसलिए पश्चिमी जगत् में एकमात्र निवृत्ति सुख-समृद्धि का साधन नहीं हो सकती।

पश्चिमी देशों में अधिकांश लोगों के सुख के लिए केवल जीविका पर्याप्त नहीं है। उन्हें इससे कुछ अधिक चाहिए, क्योंकि उनके मन में सफलता की इच्छा होती है। कुछ व्यवसायों में—जैसे वैज्ञानिक अनुसंधान में—सफलता का अनुभव उन लोगों को भी हो सकता है जिनकी आय बहुत अधिक न हो, किन्तु अधिकांश व्यवसायों में आय ही सफलता का मापदण्ड है। यहाँ हम एक ऐसे विन्दु पर पहुँच गए हैं जहाँ प्रायः किसी-न-किसी हद तक निवृत्ति अपेक्षित है, क्योंकि प्रतियोगिता के इस संसार में उत्कृष्ट सफलता केवल थोड़े लोगों के लिए ही सम्भव है।

विवाह की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसमें परिस्थितियों के अनुसार उद्यम आवश्यक हो भी सकता है और नहीं भी। जहाँ स्त्री-पुरुष में से किसी एक की जनसंख्या दूसरे की अपेक्षा बहुत कम हो—जैसे इंग्लैण्ड में पुरुषों की और आस्ट्रेलिया में स्त्रियों की—वहाँ अल्पसंख्यक जाति के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार विवाह करने में सामान्यतः बहुत कम उद्यम करना पड़ता है। जिस सेक्स की जनसंख्या दूसरे सेक्स की अपेक्षा बहुत अधिक हो उसकी स्थिति सर्वथा विपरीत है। जिस देश में स्त्रियों की जनसंख्या पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक है वहाँ स्त्रियों को विवाह के लिए कितना उद्यम और माथापच्ची करनी पड़ती है, इसका पता स्त्रियों की पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को पढ़कर चल सकता है। जिन देशों में पुरुषों की जनसंख्या अधिक है वहाँ

वे अक्सर ऐसे तरीकों से काम लेते हैं जो तुरन्त कारगर हो सकें, जैसे पिस्तौल का इस्तेमाल करके। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि अधिकांश पुरुष बहुधा सभ्यता की सीमा-रेखा पर ही दिखाई देते हैं। यदि किसी ऐसी महामारी के फलस्वरूप, जो केवल स्त्री-जाति के लिए ही घातक हो, इंग्लैण्ड में पुरुषों की जनसंख्या स्त्रियों की अपेक्षा अधिक हो जाए तो न जाने पुरुष कैसा व्यवहार करने लगें। सम्भवतः ऐसी स्थिति में वे अतीत के नूरमाओं जैसा आचरण करने लगेंगे।

बच्चों का सफलतापूर्वक पालन-पोषण करने में जितने उद्यम की आवश्यकता होती है वह इतना स्पष्ट है कि शायद कोई भी व्यक्ति उसे अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन देशों में निवृत्ति और ऐसे जीवन-दर्शन पर विश्वास किया जाता है जिसे ग़लती से आध्यात्मिक समझ लिया जाता है, उनमें बच्चों की मृत्यु-दर बहुत अधिक है। चिकित्सा, आरोग्य, रोग के कीटाणुओं से मुक्ति, युक्ताहार—ये सब तभी सम्भव हैं जब संसार के विषय में सोच-विचार किया जाए। इनके लिए ऐसी शक्ति और बुद्धि की आवश्यकता है जिनका उपयोग भौतिक परिवेश के लिए हो। जो लोग पदार्थ को भ्रम समझते हैं वे गन्दगी के बारे में भी यही सोच सकते हैं और इस प्रकार वे अपने बच्चों की मृत्यु का कारण बन सकते हैं।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य—यदि उसकी स्वाभाविक इच्छाएँ लुप्तप्राय नहीं हो चुकी हैं—किसी-न-किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त करना अवश्य है और उसका यह लक्ष्य स्वाभाविक भी है तथा न्याय-संगत भी। वह किस प्रकार का अधिकार चाहता है यह उसकी प्रबल वासनाओं पर निर्भर है। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के आचरण पर प्रभुत्व चाहता है, कोई उनके विचारों पर और कोई उनकी भावनाओं पर। कोई व्यक्ति भौतिक वातावरण को बदलना चाहता है और किसी को ऐसी अधिकार-भावना की इच्छा होती है जो बौद्धिक प्रवीणता से उत्पन्न होती है। प्रत्येक प्रकार

की जन-सेवा में—जब तक कि वह भ्रष्टाचार द्वारा धन प्राप्त करने के एकमात्र उद्देश्य से ही न की जाए—किसी-न-किसी प्रकार के अधिकार की इच्छा शामिल होती है। यदि कोई व्यक्ति मानव-कष्ट के दृश्य से उत्पन्न होने वाली परोपकार-भावना से प्रेरित है और यदि उसे वास्तव में उससे दुःख होता है तो वह मानव-कष्ट को कम करने के लिए अधिकार चाहेगा। जो व्यक्ति अधिकार के प्रति सर्वथा उदासीन है वह मानव-जाति के प्रति उदासीन है। इसलिए किसी-न-किसी रूप में अधिकार की इच्छा को उन लोगों का एक आवश्यक गुण मानना चाहिए, जिनसे एक अच्छा समुदाय बन सकता है और अधिकार की हर इच्छा—जब तक कि वह कुंठित न हो चुकी हो—प्रवृत्ति से सह-सम्बद्ध है। पाश्चात्य मन को यह बहुत साधारण-सी बात प्रतीत हो सकती है, परन्तु पश्चिमी देशों में ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो 'पूर्व की बुद्धिमत्ता' की प्रशंसा ऐसे समय में कर रहे हैं जबकि स्वयं पूर्व उसे तिलांजलि दे रहा है। शायद उन्हें हमारी बातों से मतभेद हो और यदि ऐसा है तो हमारी बातें इस योग्य अवश्य थीं कि उन्हें कहा जाए।

परन्तु सुख पर विजय प्राप्त करने में निवृत्ति का भी योग है और यह योग प्रवृत्ति के योग से किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि बुद्धिमान व्यक्ति ऐसी दुर्घटनाओं को चुपचाप सहन नहीं करेगा जिनसे वह बच सकता हो, किन्तु जिन दुर्घटनाओं से बचना उसके लिए सम्भव न हो उनसे बचने के लिए वह अपने समय और अपनी भावी सम्पदा को नष्ट भी नहीं करेगा। वह ऐसी दुर्घटनाओं के सामने भी हार मान लेगा जिनसे बचना तो सम्भव हो, किन्तु जिनसे बचने के लिए इतना समय और परिश्रम आवश्यक हो कि अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों में बाधा पड़ती हो। बहुत-से लोग हर मामूली-सी गड़बड़ी पर व्यग्र या क्रुद्ध हो उठते हैं और इस प्रकार वे अपनी ऐसी बहुत-सी शक्ति का अपव्यय करते हैं जिसका अधिक अच्छा उपयोग हो सकता था। जो प्रयोजन वास्तव में महत्त्वपूर्ण हों उनकी सिद्धि से भी इतना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर

लेना बुद्धिमानी नहीं है कि सम्भावित विफलता की आशंका हमेशा मानसिक शान्ति के लिए घातक बनी रहे। ईसाई धर्म ने ईश्वर की इच्छा के अधीन रहने की शिक्षा दी थी और जो लोग इस शिक्षा को स्वीकार नहीं कर सकते, उनके भी समस्त कार्यों के मूल में कुछ इसी प्रकार का भाव व्याप्त होना चाहिए। यह सोचना ग़लत है कि किसी व्यावहारिक कार्य के प्रति हमारे मन में जितना राग होगा उसी अनुपात में उस कार्य को करने की कुशलता में वृद्धि होगी। वास्तव में रागात्मिका वृत्ति कभी-कभी कुशलता में बाधक होती है। आपकी मनोवृत्ति यह होनी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो अपनी ओर से पूरी-पूरी कोशिश करते रहिए और मामले को भाग्य पर छोड़ दीजिए। निवृत्ति दो प्रकार की होती है—एक निराशामूलक और दूसरी वह जिसका सम्बन्ध अजेय आशा से है। पहले प्रकार की निवृत्ति बुरी है और दूसरे प्रकार की अच्छी। जिस व्यक्ति को ऐसी मूलभूत विफलता का सामना करना पड़ा हो कि उसे किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की कोई आशा ही न रही हो, तो वह निराशामूलक निवृत्ति का शिकार हो सकता है और ऐसी स्थिति में वह समस्त गम्भीर कार्यों से विमुख हो जाएगा। अपनी निराशा को छिपाने के लिए वह धार्मिक वाक्यांशों का या इस विश्वास का आश्रय ले सकता है कि ध्यान ही मनुष्य का सच्चा ध्येय है, परन्तु वह अपनी आन्तरिक पराजय को छिपाने के लिए चाहे जो भी रूप धारण करे वह मूलतः बेकार और दुःखी ही रहेगा। जिस व्यक्ति की निवृत्ति अजेय आशा पर आधृत होगी उसका आचरण इससे बिलकुल भिन्न होगा। अजेय आशा विशाल और निर्वैयक्तिक होनी चाहिए। मेरे वैयक्तिक कार्यकलाप चाहे कुछ भी हों, मुझे मृत्यु या विशेष प्रकार के कुछ रोग पराजित कर सकते हैं। शत्रु मुझे दबा सकते हैं। मुझे यह बोध हो सकता है कि मैं जिस मार्ग पर चल रहा हूँ वह बुद्धिमानी का मार्ग नहीं है और इस मार्ग पर चलकर मुझे सफलता नहीं मिल सकती। हज़ारों तरीकों से विशुद्ध वैयक्तिक आशाओं की विफलता से बचना असम्भव हो सकता

है किन्तु यदि वैयक्तिक लक्ष्य मानवता-सम्बन्धी महत्तर आशाओं का अंग रहे हों तो विफल होने पर भी इतनी घोर पराजय का अनुभव नहीं होता। विज्ञान के क्षेत्र में महान् आविष्कार की इच्छा करने वाला कोई वैज्ञानिक अपने ध्येय में विफल हो सकता है या किसी विपत्ति के कारण उसे अपना कार्य छोड़ना पड़ सकता है; किन्तु यदि उसकी एकमात्र इच्छा यह न हो कि वह इस विषय में अपना योगदान करे, वल्कि वह विज्ञान की प्रगति भी जी-जान से चाहता हो, तो उसे वैसी निराशा नहीं होगी जैसी कि किसी ऐसे व्यक्ति को जिसके अनुसन्धान का एकमात्र प्रयोजन अहम् भाव रहा हो। किसी व्यक्ति का सुधार-कार्य युद्ध के कारण स्थगित हो सकता है और वह यह सोचने के लिए वाध्य हो सकता है कि उसके ध्येय की पूर्ति उसके जीवन-काल में नहीं हो सकेगी। किन्तु यदि अपने योगदान के अतिरिक्त उसे मानवता के भविष्य से भी दिलचस्पी होगी तो उसे इस असफलता के कारण घोर निराशा में डूब जाने की कोई आवश्यकता नहीं।

हमने जिन स्थितियों पर अभी विचार किया है उनमें निवृत्ति बहुत कठिन हो जाती है। ऐसी अनेक स्थितियाँ हैं जिनमें निवृत्ति का मार्ग अपनाना बहुत आसान है। ये ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें केवल गौण प्रयोजनों की विफलता का सामना करना पड़ता है जबकि जीवन के मुख्य प्रयोजनों में सफलता की आशा बनी रहती है। उदाहरण के लिए, किसी महत्त्वपूर्ण काम में लगा हुआ कोई व्यक्ति वैवाहिक जीवन के दुःखों से चिन्ताग्रस्त हो जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि उसमें अपेक्षित निवृत्ति का अभाव है। यदि उसका काम वास्तव में ऐसा है कि वह उसमें तल्लीन रहता है तो उसे ऐसी सांयोगिक विपत्तियों के विषय में उसी तरह सोचना चाहिए जिस तरह लोग बरसात के दिन के बारे में सोचते हैं, यानी उसे इन विपत्तियों को ऐसा कष्ट समझना चाहिए जिनके बारे में शोर मचाना मूर्खता है।

कुछ लोग ऐसी छोटी-मोटी परेशानियों को भी धीरज के साथ सहन नहीं कर सकते जो—यदि हम उन्हें ऐसा बनने दें—तो हमारे जीवन का

एक बहुत बड़ा हिस्सा होती हैं। ट्रेन छूट जाती है तो वे आपे से बाहर हो जाते हैं। खाना खराब पका हो तो उनके क्रोध की सीमा नहीं रहती। चिमनी से धुआं निकलने लगे तो उनका मन उदासी से भर जाता है और स्टीम लांड्री से उनके कपड़े समय पर न आएँ तो वे पूरी औद्योगिक व्यवस्था के विरुद्ध भड़क उठते हैं। मामूली-मामूली बातों पर ये लोग जितनी शक्ति बरबाद करते हैं उसका उपयोग अधिक बुद्धिमत्ता के साथ किया जाए तो वह राज्यों को बनाने और नष्ट करने के लिए पर्याप्त हो सकती है। बुद्धिमान व्यक्ति उस धूल पर ध्यान नहीं देता जिसे नौकरानी ने साफ नहीं किया है। रसोइये ने आलू क्यों नहीं पकाया, इस ओर भी उसका ध्यान नहीं जाता और जो कालिख धुआंकश झाड़ने वाले से रह गई है उसकी भी चिन्ता वह नहीं करता। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि वह समय होते हुए भी इन सब बातों को सुधारने की कोशिश नहीं करता। मेरा मतलब केवल यही है कि ऐसे मामलों में वह आवेश से काम नहीं लेता। चिन्ता, क्रोध और झुंझलाहट ऐसी भावनाएँ हैं जिनसे कोई लाभ नहीं होता। जिन लोगों के मन में ऐसी प्रचण्ड भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे कह सकते हैं कि उनको नियन्त्रित रखने की शक्ति उनमें नहीं है और मेरे विचार में उस मूलभूत निवृत्ति के बिना, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, उनको नियन्त्रित करना शायद ही सम्भव हो। महान् निर्वैयक्तिक आशाओं पर अपने ध्यान को केन्द्रित रखने की जिस वृत्ति से व्यक्ति अपने कार्य में होने वाली विफलता या दुःखी वैवाहिक जीवन को सहन कर सकता है, उसी प्रकार की वृत्ति उसे ऐसे क्षणों में धीरज दे सकती है जब उसकी ट्रेन छूट जाए या उसका छाता कीचड़ में गिर जाए। यदि वह चिड़चिड़े स्वभाव का व्यक्ति है तो इससे सरल किसी और उपाय से शायद ही उसका प्रतिकार हो सके।

जो व्यक्ति चिन्ता के साम्राज्य से मुक्त हो चुका है उसे जीवन पहले की अपेक्षा, जब वह निरन्तर चिड़चिड़ाता रहता था, कहीं अधिक आनन्द-दायक लगेगा। परिचितों की व्यक्तिगत सनकें, जिन्हें देखकर पहले उसे

चीखने की इच्छा होती थी, अब उसके लिए प्रसन्नता-दायी होंगी। जब श्री 'क' तीन सौ सैंतालीसवीं बार तियेरा देल फ्यूगो के पादरी का लतीफ़ा सुनायेंगे तो उनकी इस जीत से उसका मनोरंजन ही होगा और विषयान्तर के लिए व्यर्थ अपना कोई चुटकुला सुनाने की इच्छा उसके मन में नहीं उठेगी। जब सवेरे की गाड़ी पकड़ने की उसे जल्दी हो और उसके जूते का फ़ीता टूट जाए तो वह उस समय कुछ अनावश्यक शब्द कहने के बाद सोचेगा कि विश्व के इतिहास में इस घटना का कुछ अधिक महत्व नहीं है। जब विवाह के प्रस्ताव के समय उसके पास उसका उकता देने वाला पड़ोसी आ जाए तो वह सोचेगा कि आदम को छोड़कर सारी मानव-जाति को ऐसे संकट का सामना करना पड़ा है और आदम के भी अपने कुछ विशेष कष्ट थे। ऊटपटाँग समानताओं और अनोखे सादृश्यों की सहायता से मामूली दुर्घटनाओं में कितनी सांत्वना मिल सकती है, इसकी कोई सीमा नहीं है। मेरे विचार में हर सभ्य पुरुष या स्त्री के मन में उसका अपना एक चित्र होता है और जब कभी कोई ऐसी घटना होती है जिससे यह चित्र विकृत हो सकता हो, तो उसका मन क्रोध से भर जाता है। सबसे अच्छा उपाय यह है कि मन में केवल एक चित्र न हो, बल्कि पूरा चित्रागार हो और इसमें से घटना के अनुसार उपयुक्त चित्र चुन लिया जाए। यदि कुछ चित्र ऐसे हों जिन्हें देखकर हँसी आए तो और भी अच्छा है। अपने-आपको हमेशा किसी गहन त्रासदी के नायक के रूप में देखना कोई बुद्धिमानी नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि हमेशा अपने को किसी प्रहसन के भाँड के रूप में ही देखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के लोगों से तो और भी अधिक झुँझलाहट होती है। स्थिति के अनुकूल अभिनय का चुनाव करने के लिए थोड़ी चतुराई की आवश्यकता होती है। यदि आप अपने को भूल सकें और अभिनय करें ही नहीं तो निस्संन्देह यह बहुत अच्छी बात है। परन्तु यदि अभिनय करना आपका स्वभाव बन चुका है तो इस बात का ध्यान रखिए कि आपके अभिनय में वैविध्य हो जिससे कि उसमें एकरसता न आ सके।

बहुत-से कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का मत है कि निवृत्ति का आभास मात्र और विनोद की हल्की-सी झलक उनकी उस शक्ति को जिससे वे काम करते हैं और उस संकल्प को जिससे वे अपने विश्वास के अनुसार सफलता प्राप्त करते हैं, नष्ट कर डालेगी। मेरे विचार में यह धारणा ग़लत है। जो काम करने योग्य है उसे वे लोग भी कर सकते हैं जो उसके महत्त्व या सुगमता के विषय में अपने-आपको कोई धोखा नहीं देते। जो लोग आत्म-प्रवंचना का सहारा लेकर ही कोई काम कर सकते हैं उनके लिए अच्छा यही है कि अपना काम आरम्भ करने से पहले वे सत्य को सहना सीखें, क्योंकि झूठी कल्पनाओं का आश्रय लेने की आवश्यकता के फलस्वरूप उनका काम कभी-न-कभी लाभप्रद होने के बदले हानिकारक बन जायेगा। हानिकर कार्य करने से अच्छा है कि आदमी कुछ न करे। विश्व के आधे लाभप्रद कार्यों का सम्बन्ध हानिकारक कार्यों की काट करने से है। तथ्यों की सही जानकारी की शिक्षा प्राप्त करने में जो समय लगाया जाएगा वह नष्ट नहीं होगा और इसके बाद जो काम किया जाएगा उसके हानिकर होने की सम्भावना ऐसे लोगों के काम की अपेक्षा बहुत कम होगी, जिन्हें अपनी शक्ति को प्रेरित करने के लिए निरन्तर अहम् की तुष्टि की आवश्यकता होती है। अपने बारे में सत्य को स्वीकार करने की इच्छा का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार की निवृत्ति से है। यद्यपि इस प्रकार की निवृत्ति आरम्भ में बहुत दुःख का कारण हो सकती है, किन्तु अन्ततः यह ऐसी निराशाओं से रक्षा करती है जिनका सामना आत्म-प्रवंचक को करना पड़ सकता है। प्रतिदिन ऐसी बातों को सच मानने की कोशिश, जो प्रतिदिन अधिक-से-अधिक अविश्वसनीय होती जाती हैं, जितनी क्लांतिकर और आगे चलकर, जितनी उत्तेजक होती है उतनी कोई और वस्तु नहीं होती। इस कोशिश से मुक्त हो जाना सुरक्षित और स्थायी सुख की अनिवार्य शर्त है।

सत्रहवाँ अध्याय

सुखी मानव

जैसा कि स्पष्ट ही है, सुख कुछ तो बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर है और कुछ स्वयं मनुष्य पर । इस पुस्तक में हमने सुख के उसी अंश पर विचार किया है जो स्वयं मनुष्य पर निर्भर है और हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ तक इस अंश का सम्बन्ध है, सुख प्राप्त करने की युक्ति बहुत सरल है । बहुत-से लोगों का विचार है कि धार्मिक विश्वास जैसे विश्वास के बिना सुख सम्भव नहीं है । इन लोगों में मुझे श्री क्रच को भी शामिल करना चाहिए, जिनकी चर्चा मैं पहले किसी अध्याय में कर चुका हूँ । बहुत-से लोग, जो स्वयं दुःखी हैं, यह सोचते हैं कि उनके दुःखों के कारण बहुत जटिल और बौद्धिक हैं । मेरे विचार में ये बातें सुख या दुःख का असली कारण नहीं हो सकतीं । मेरी दृष्टि में ये लक्षण मात्र हैं । जो व्यक्ति दुःखी होगा वह कोई दुःखप्रद विश्वास ही अपनाएगा, जबकि सुखी व्यक्ति सुखद विश्वास को ग्रहण करेगा । दोनों ही अपने सुख या दुःख का सम्बन्ध अपने विश्वासों से जोड़ेंगे, किन्तु असली कारण इसके विपरीत है । कुछ चीजें प्रायः सभी लोगों के सुख के लिए अनिवार्य होती हैं, किन्तु ये बहुत ही मामूली चीजें हैं, जैसे खाना, रहने के लिए घर, स्वास्थ्य, स्नेह, अपने काम में सफलता प्राप्त करना और अपने समुदाय में सम्मान की दृष्टि से देखा जाना । कुछ लोगों के सुख के लिए सन्तान भी आवश्यक होती है । जहाँ इन चीजों का अभाव हो, वहाँ कोई असाधारण व्यक्ति ही सुख की उपलब्धि में सफल हो सकता है । किन्तु यदि व्यक्ति को ये सारी चीजें मिली हुई हैं, या वह इन्हें भली प्रकार कि

गए प्रयास द्वारा प्राप्त कर सकता है और इसके बाद भी वह दुःखी है तो वह किसी मनोवैज्ञानिक गड़बड़ी का शिकार है। यह गड़बड़ी बहुत तीव्र हो तो मनो-चिकित्सक की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु यदि यह मामूली हो तो रोगी स्वयं उपचार कर सकता है। शर्त यह है कि वह इस सम्बन्ध में उचित तरीक़े से काम ले। यदि किसी व्यक्ति की बाहरी परिस्थितियां निश्चित रूप से दुःखद न हों और उसकी वासनाओं तथा रुचियों का झुकाव बाहरी दिशा में हो, न कि आन्तरिक दिशा में, तो उसे सुखी रहना चाहिए। इसलिए शिक्षा में और संसार से अपना सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्नों में भी हमारा ध्येय यही होना चाहिए कि आत्म-केन्द्रित वासनाओं से बचा जाए और ऐसा स्नेह तथा ऐसी रुचियां प्राप्त की जाएं जो हमारे विचारों को हमेशा हमारे गिर्द चक्कर काटने से रोक सकें। अधिकांश लोग जेल में सुखी नहीं रह सकते और जिन वासनाओं से हम अपने-आपमें बन्द हो जाते हैं वे बहुत ही खराब जेलों में से हैं। इस प्रकार की वासनाओं में भय, ईर्ष्या, पाप-भावना, आत्म-दया और आत्म-श्लाघा कुछ बहुत ही सामान्य वासनाएं हैं। इन सबमें हम स्वयं अपनी इच्छाओं का केन्द्र होते हैं, बाहरी जगत् के प्रति हमारी कोई भी वास्तविक रुचि नहीं होती। हमें केवल यह चिन्ता होती है कि बाहरी जगत् से हमें कहीं कोई चोट न पहुँचे या कहीं वह हमारे अहम् की तुष्टि में असमर्थ न रहे। लोग सत्य को स्वीकार करने के इतने अनिच्छुक और मिथ्या के आवरण के लिए इतने उत्सुक क्यों रहते हैं? इसका मुख्य कारण भय ही है। परन्तु कांटे इस आवरण को फाड़ डालते हैं और शीतल वायु के झोंके छेदों से अन्दर घुस आते हैं। जो व्यक्ति इस आवरण की उष्णता का आदी हो चुका है उसे इन ठण्डे झोंकों से उस व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक कष्ट पहुँचता है, जो इन्हें शुरू पहले से सहता रहा है। इसके अतिरिक्त जो लोग अपने-आपको धोखा देते हैं वे सामान्यतः अपने मन की गहराई में इस तथ्य को महसूस करते हैं और उन्हें निरन्तर यह आशंका रहती है कि कहीं कोई प्रतिकूल

घटना उन्हें ऐसी बातों का बोध न करा दे जिनसे वे बचना चाहते हैं।

आत्मकेन्द्रित वासनाओं में एक बड़ा दोष यह है कि उनसे जीवन की विविधता बहुत सीमित हो जाती है। यह सच है कि जो व्यक्ति केवल अपने से प्रेम करता है, उस पर स्नेह-सम्बन्धों में अस्थिर होने का दोषारोपण नहीं किया जा सकता, परन्तु अपने प्रेम-पात्र की अवश्यम्भावी समानता के फलस्वरूप उसे अन्त में ऐसी उकताहट का सामना करना पड़ेगा जो असह्य होगी। जो व्यक्ति पाप की भावना से पीड़ित है वह वास्तव में एक विशेष प्रकार के आत्म-प्रेम का शिकार है। इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में उसे जो बात सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है वह है उसका पुण्यात्मा होना। कुछ परम्परागत धर्मों का यह बहुत बड़ा दोष है कि उन्होंने इस विशेष प्रकार की आत्मलीनता को प्रोत्साहन दिया है।

सुखी व्यक्ति वह है जिसका जीवन वस्तुपरक है, जिसका स्नेह उन्मुक्त है और जिसकी रुचियाँ व्यापक हैं, जिसके सुख का स्रोत यही रुचियाँ और स्नेह-सम्बन्ध हैं, और साथ ही यह तथ्य भी कि ये गुण उसे दूसरों की रुचि और स्नेह का पात्र बनाते हैं। स्नेह-पात्र होना सुख का बहुत शक्तिशाली कारण है, परन्तु स्नेह की माँग करने वाले को स्नेह नहीं मिल पाता। सामान्यतया स्नेह उसी व्यक्ति को मिलता है जो स्नेह दे सकता हो। लेकिन जिस प्रकार लोग ब्याज लेने के लिए रुपया उधार देते हैं, उसी प्रकार लेन-देन की भावना से स्नेह देने का कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा स्नेह सच्चा स्नेह नहीं होता और जिसके साथ ऐसा स्नेह किया जाता है वह भी इसे सच्चा नहीं समझता।

फिर ऐसा व्यक्ति, जो अपने में ही बन्द रहने के कारण दुःखी है, क्या करे? जब तक वह अपने दुःख के कारणों पर विचार करता रहेगा, तब तक वह आत्मकेन्द्रित ही बना रहेगा और इसलिए इस दुष्ट भँवर से बाहर नहीं निकल सकता; यदि उसे इससे बाहर निकलना है तो उसकी रुचि सच्ची होनी चाहिए। केवल उपचार के रूप में बनावटी रुचि ग्रहण करने से वह इस भँवर से नहीं निकल सकता। यद्यपि यह

कठिनाई सच्ची है, फिर भी यदि उसने अपने रोग का निदान ठीक-ठीक कर लिया है तो वह बहुत-कुछ कर सकता है। मान लीजिए कि उसका कष्ट चेतन या अचेतन रूप से पाप की भावना से उत्पन्न हुआ है। ऐसी स्थिति में वह पहले अपने चेतन मन को समझा सकता है कि उसके लिए अपने को पापी अनुभव करने का कोई कारण नहीं है और तब उसे चाहिए कि पिछले अध्यायों में हम जो विधि बता चुके हैं उससे इस विवेकसंगत विश्वास को अपने अचेतन मन पर आरोपित करे और इस बीच अपने को किसी तटस्थ कार्यकलाप में लगाए रखे। यदि वह पाप की भावना को दूर करने में सफल हो गया तो सम्भव है कि सच्ची वस्तुपरक रुचियां स्वयमेव जाग उठेंगी। यदि वह आत्म-दया से पीड़ित है, तो वह उसको भी इसी प्रकार से दूर कर सकता है—पहले अपने-आपको यह विश्वास दिलाकर कि इसकी परिस्थितियां ऐसी नहीं हैं जो असाधारण रूप से दुर्भाग्यपूर्ण हों। यदि वह भय से पीड़ित है तो उसे ऐसे अभ्यास करने चाहिएं, जिनसे उसमें साहस उत्पन्न हो सके। युद्ध में साहस-प्रदर्शन बहुत जमाने से एक महत्त्वपूर्ण गुण माना गया है और लड़कों और युवकों के प्रशिक्षण का बहुत अधिक अंश ऐसे चरित्र के निर्माण में लगता रहा है जो युद्ध में निर्भीक रह सके। परन्तु नैतिक और बौद्धिक साहस का अध्ययन अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है, परन्तु इनकी भी अपनी प्रविधि है। अपने सम्बन्ध में एक कटु सत्य को प्रति-दिन स्वीकार कर लीजिए। आप इसे लगभग उतना ही उपयोगी पाएंगे जितना कि बालचर के लिए उसका दैनिक दयापूर्ण कार्य होता है। अपने को यह अनुभव करना सिखाइए कि यदि आप अपने सभी मित्रों से बुद्धि और गुण में अत्यधिक श्रेष्ठ न भी हों, तो भी जीवन जीने योग्य रहेगा ही। कई वर्ष तक इस प्रकार का अभ्यास करते रहने से आप कम-से-कम इस योग्य तो हो जाएंगे कि वास्तविकता को बिना हिचक के स्वीकार कर लें और यह योग्यता आपको बहुत हद तक भय के साम्राज्य से मुक्त कर देगी।

अपने-आपमें डूबे रहने के रोग से मुक्त होने के बाद आपके भीतर कौन-सी वस्तुपरक रुचियाँ जागेंगी, इसे आप अपनी प्रकृति और बाहरी परिस्थितियों की सहज क्रिया पर छोड़ दीजिए। अपने से पहले से ही यह कहना शुरू न कीजिए कि "मैं डाक-टिकट जमा करने लगूँ तो मुझे बहुत सुख मिलेगा", और फिर ऐसा सोचकर टिकट जमा करना शुरू कर दें। बहुत सम्भव है कि टिकट जमा करने का काम आपके लिए ज़रा भी रुचिकर न हो। जो चीज़ आपमें सच्ची रुचि उत्पन्न कर सके केवल वही आपके लिए उपयोगी हो सकती है। परन्तु आप यह विश्वास रखिए कि जैसे ही आप अपने-आपमें डूबे न रहना सीख जाएँगे वैसे ही आपमें सच्ची रुचियाँ जाग उठेंगी।

बहुत बड़ी सीमा तक सुखी जीवन वही है जिसे हम अच्छा जीवन कहते हैं। परम्पराश्रयी नैतिकतावादियों ने आत्म-त्याग को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है और इस प्रकार उन्होंने एक ग़लत पहलू पर बल दिया है। सचेतन रूप से आत्म-त्याग करने से व्यक्ति आत्मलीन हो जाता है और जो कुछ उसने त्याग दिया है उसके प्रति अत्यधिक सजग हो उठता है। फलस्वरूप यह आत्म-त्याग बहुधा अपना तात्कालिक उद्देश्य प्राप्त करने में भी असफल रहता है और अपने अन्तिम लक्ष्य में तो प्रायः सदा ही विफल रहता है। आवश्यकता आत्म-त्याग की नहीं है, वरन् रुचि को इस प्रकार बहिर्मुखी दिशा प्रदान करने की है, जिससे स्वाभाविक रूप से वे ही कार्य स्वयमेव होने लगेंगे जिन्हें अपने ही सद्गुणों की खोज में विलीन व्यक्ति केवल सचेतन आत्म-त्याग के द्वारा ही कर सकता है। मैंने यह पुस्तक एक सुखवादी की हैसियत से लिखी है, अर्थात् सुख को श्रेयम् मानने वाले की दृष्टि से। परन्तु जो कृत्य सुखवादी के दृष्टिकोण से करणीय हैं लगभग वे ही कृत्य नैतिकतावादी के दृष्टिकोण से भी करणीय हैं। तथापि नैतिकतावादी मनोदशा से अधिक कृत्य पर बल देता है, यद्यपि सभी नैतिकतावादियों के बारे में ऐसा कहना सही नहीं है। कर्ता पर कार्य का प्रभाव उसकी तात्कालिक

साथ टकरा जाने के अतिरिक्त कोई और सम्बन्ध ही न हो। सभी दुःखों के मूल में किसी-न-किसी प्रकार की विशृंखलता या ऐक्य का अभाव होता है। चेतन और अचेतन मन में समन्वय न होने के कारण व्यक्ति के भीतर विशृंखलता आती है। व्यक्ति और समाज के बीच ऐक्य का अभाव तब होता है जब दोनों वस्तुपरक रुचियों और स्नेह-सम्बन्धों की शक्ति से एक-दूसरे से जुड़े नहीं रहते। सुखी मानव वही है जो एकता की इन असफलताओं से पीड़ित नहीं है, जिसका व्यक्तित्व न तो भीतर से विच्छिन्न है और न ही संसार से युद्ध करने में लगा हुआ है। ऐसा मानव अपने को विश्व-नागरिक अनुभव करता है। वह विश्व के वैभव का उपभोग करता है और मृत्यु का विचार उसे आक्रान्त नहीं कर पाता, क्योंकि वह वस्तुतः आगे आने वाली मानवता से अपने को पृथक् नहीं मानता। जीवन-धारा से इस प्रकार सहज गम्भीरता का एकत्व अनुभव करने में ही महत्तम आनन्द उपलब्ध होगा।